मध्यकालीन हिन्दी काव्य

डा. कृष्ण देव शर्मा

विनोद प्रकाशन

मध्यकालीन हिन्दी काव्य

[बी० ए० (पास) प्रथम वर्ष हिन्दी 'क' के निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार]

सम्पादक एवं टीकाकार

डॉ० कृष्णदेव शर्मा

रामलाल आनन्द कॉलेज,
नयी दिल्ली-110021

S.B.D
Phone: 275352
SEHGAL BOOK DEPOT
(Nai Dukan)
4484, Nai Sarak,
DELHI-110006

विनोद प्रकाशन

एजुकेशनल पब्लिशर्ज

171, गफ्फार मार्कीट, करोल बाग, नयी दिल्ली-110005

प्रकाशक :
विनोद प्रकाशन
171, गफ्फार मार्कीट,
करोल बाग,
नयी दिल्ली-110005

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : 1984-85

मूल्य : 10·50 रुपये

मुख्य वितरक :
गोल्डन बुक डिपो
171, गफ्फार मार्कीट,
करोल बाग, नयी दिल्ली-110005
दूरभाष : 564029

मुद्रक :
अजय प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110032

दो शब्द

मध्यकालीन हिन्दी काव्य में मध्यकाल के मलिक मुहम्मद जायसी, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, भूषण, गुरु गोबिन्दसिंह, देव कवि और बोधा कवि की श्रेष्ठ रचनाओं और कविताओं का सुरुचिपूर्ण संकलन विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर किया गया है। कवि परिचय के अतिरिक्त मूल पाठ को सुस्पष्ट करने के लिए शब्दार्थ एवं सप्रसंग व्याख्या भी दे दी गयी है तथा पुस्तक को उपयोगी बनाने की चेष्टा सर्वत्र की गयी है। कवि के मूल भावों का स्पष्टीकरण सावधानी के साथ किया गया है किन्तु कहीं-कहीं त्रुटि रहना सम्भव है। त्रुटि के अवगत कराने पर उसका परिष्कार आगामी संस्करण में कर दिया जाएगा और इसके लिए सम्पादक दोष-दर्शन कराने वाले विद्वान् अध्येता के प्रति आभारी होगा।

प्रस्तुत पुस्तक अध्येता और छात्रों के लिए रुचिकर और हितकर होगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

—**कृष्णदेव शर्मा**

अनुक्रम

मलिक मुहम्मद जायसी	1-12
परिचय	1
पद्मावत : बनिजारा खण्ड	3
सूरदास	13-44
परिचय	13
बाल-वर्णन	16
मुरली वचन गोपियों के प्रति	26
उद्धव प्रत्यागमन	34
गोस्वामी तुलसीदास	45-82
परिचय	45
रामचरितमानस : लंकाकाण्ड : अंगद-दौत्य	48
गीतावली : लक्ष्मण-मूर्छा	66
कवितावली : बाल वर्णन	78
भूषण	83-98
परिचय	83
संकलन	86
गुरु गोबिन्दसिंह	98-108
परिचय	98
चण्डीचरित्र उक्ति विलास	100
देवकवि	109-126
परिचय	109
दर्शन-मिलन	110
बोधा कवि	126-40
परिचय	126
संकलन	128

मध्यकालीन हिन्दी काव्य

मलिक मुहम्मद जायसी

भक्तिकाल के प्रेममार्गी सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी सर्वप्रमुख हैं। ये जिला रायबरेली के अन्तर्गत जायस नामक ग्राम के निवासी थे, इसी कारण इन्हें जायसी के नाम से भी पुकारा जाता है। इनके जन्म-स्थान के विषय में सुनिश्चित आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता। 'आखिरी कलाम' के 'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कवि बदी' के आधार पर इनका जन्म हिजरी 900 (संवत् लगभग 1492) में हुआ और तीस वर्ष उपरान्त उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया। जायसी के माता-पिता किसान थे जिनका देहावसान जायसी की बाल्यावस्था में ही हो गया था। इनका पालन-पोषण इनके नाना के घर हुआ। बचपन में ही भाग्य ने इन्हें कोप का भाजन बना लिया। सात वर्ष की अवस्था में चेचक निकल आने के कारण इनकी बायीं आँख बेकार हो गयी और इसके साथ ही बायाँ कान भी बेकार हो गया। इनका गृहस्थ जीवन भी सुखी नहीं रहा। पत्नी का देहान्त हो गया और सात सन्तानें छत के नीचे दफन हो गयीं। बचपन से ही इनकी रुचि ईश्वर की ओर थी; इन विपत्तियों ने उनकी भावना को और भी उद्दीप्त किया। संसार से विरक्त होकर महात्मा शेख मोईउद्दीन के शिष्य हो गये। अमेठी के राजा रामसिंह के ये विशेष कृपाभाजन थे। कहते हैं कि जायसी के आशीर्वाद से राजा को पुत्र की प्राप्ति हुई थी और अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में भी पहले ही भविष्यवाणी कर दी थी कि मेरी मृत्यु एक शिकारी के बाण से होगी। राजा रामसिंह ने अपने राज्य में इसलिए शिकार का निषेध कर दिया था परन्तु जो होना था, वह होकर ही रहा। एक दिन एक शिकारी ने भ्रमवश इन्हें बाघ समझकर इन पर गोली चला दी।

जायसी की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, महरीबाईसी, चित्रावत और मोस्तीनामा। इनके अतिरिक्त मंसदा, कहरनामा, मुकहरा-नामा, मुहरानामा, खुर्वानामा, संकरानामा, चम्पावत, भटकावत, इतरावत, लखरावत आदि रचनाएँ भी जायसी की बताई जाती हैं। 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट रचना-काव्य है, प्रेम-काव्य है, जिसे जायसी की रचनाओं में सदा सर्वोच्च स्थान दिया जाता है तथा कदाचित् अन्य सूफी प्रेम-काव्यों में यह सर्वश्रेष्ठ है। 'चित्ररेखा' के अन्तर्गत चन्द्रपुर के राजा चन्द्रभानु की पुत्री चित्ररेखा और कन्नौज के राजा कल्याणसिंह के पुत्र प्रीतम कुँवर की कथा आती है जिसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार वह राजकुमार राजकुमारी के लिए निश्चित किसी कुबड़े वर का स्थान ग्रहण कर उससे विवाह कर लेता है और अन्त में न केवल उसे ही पा लेता है, अपितु संयोगवश अल्पायु से दीर्घायु तक बन जाता है।

कहते हैं कि यह रचना किसी लोकगाथा पर आधारित है। 'अखरावट' में कतिपय सूफी सिद्धान्तों का वर्णन पाया जाता है और 'आखिरी कलाम' द्वारा उस पुनरुत्थान के समय का एक चित्रण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है जो इस्लाम धर्म की मान्यता के अनुसार सृष्टि के अन्त में होने वाला है तथा जिसे ध्यान में रखना आवश्यक है। इसी प्रकार 'महरी बाईसी' के अन्तर्गत चेतावनी और उपदेश आते हैं तथा अप्रकाशित रचनाओं में से 'पोस्तीनामा' में अफीमचियों का खाका खींचा गया है।

जायसी का प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' मसनवी पद्धति पर लिखा हुआ महाकाव्य है। इसमें सर्ग-बद्धता तो नहीं है किन्तु सम्पूर्ण कथावस्तु वर्णनों एवं घटनाओं के आधार पर खण्डों में विभाजित है। यथा—सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड, जन्म खण्ड, मानसरोदक खण्ड, रतनसेन जन्म खण्ड, नखशिख खण्ड, पद्मावती वियोग खण्ड आदि। इस प्रकार इसकी सम्पूर्ण कथा 58 खण्डों में विभाजित है। इसकी कथा-वस्तु में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। इसमें वस्तु-वर्णनों का बाहुल्य है। उसमें द्वीप, नगर, राजभवन, दुर्ग, सरोवर, यात्रा, समुद्र, आक्रमण, युद्ध, मन्त्रणा, दूत-प्रेषण, पुत्र-जन्म, विवाह, जल-क्रीड़ा, संयोग-वियोग, जय-पराजय, रूप-सौन्दर्य आदि का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है।

जायसी का हृदय भी प्रकृति की मनोहर एवं मंजुल-क्रीड़ाओं को देखकर भावविभोर हुआ है। उन्होंने मानव की चिर-सहचरी प्रकृति नटी के क्रिया-कलाप को भावपूर्ण दृष्टि से देखा है तथा प्रकृति के व्यापारों के साथ मानव-व्यापारों का साम्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म मनोभावों के सरस एवं सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। उनके काव्य में प्रकृति आलम्बन, उद्दीपन, अलंकार, रहस्य-भावना, उपदेश, प्रतीक, मानवीकरण, पृष्ठभूमि के निर्माण-रूप में अंकित हुई है। षड्ऋतु वर्णन और बारहमासा का चित्रण भी उनकी कविता में हृदयग्राही रूप में हुआ है।

रसयोजना की दृष्टि से जायसी के काव्य में शृंगार रस की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का चित्रण मार्मिक रूप में अंकित हुआ है। यही नहीं, नागमती का विरह-वर्णन तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। संयोग के अन्तर्गत नख-शिख निरूपण भी बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसों की भी उनके काव्य में सुष्ठु योजना हुई है। उनके काव्य में लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। भावात्मक रहस्यवाद की झलक उनकी कविता में स्पष्ट देखी जा सकती है। जायसी की अलंकार-योजना भी सुन्दर बन पड़ी है। उन्होंने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति और सांगरूपकों का प्रयोग बहुलता के साथ किया है। इन अलंकारों का प्रयोग अर्थ-गाम्भीर्य के साथ-साथ भावोत्कर्ष में भी अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। उन्होंने मुख्यतः चौपाई और दोहा छन्द को ही अपनाया है। जायसी ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की है। उन्होंने अवधी के जनप्रचलित रूप को महत्त्व दिया है। तुलसी की भाँति भाषा का परिमार्जन उनका लक्ष्य नहीं था। भाषा भावों की अभिव्यक्ति में पूर्णतः समर्थ है।

पद्मावत : बनिजारा खण्ड

(1) चितउर गढ़ का एक बनिजारा। सिंघल दीप चला बैपारा।।
बाँभन एक हुत नष्ट भिखारी। सो पुनि चला चलत बैपारी।।
रिनि काहू कर लीन्हेस काढ़ी। मकु तहँ गएँ होइ किछु बाढ़ी।।
मारग कठिन बहुत दु:ख भए। नाँघि समुद्र दीप ओहि गए।।
देखि हाट किछु सूझ न ओरा। सबै बहुत किछु दीख न थोरा।।
पै सुठि ऊँच बनिज तहँ केरा। धनी पाउ निधनी मुख हेरा।।
लाख करोरन्हि वस्तु बिकाई। सहसन्हि केर न कोइ ओनाई।।
सबहीं लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर।
बाँभन तहाँ लेइ का गाँठि-साँठि सुठि थोर।।1।।

शब्दार्थ—बनिजारा—घूम-घूमकर व्यापार करने वाला व्यापारी। सिंघल-दीप—सिहल द्वीप। बैपार—व्यापार। बाँभन—ब्राह्मण। बैपारी—व्यापारी। रिन—ऋण। काहू—किसी से। काढ़ी—निकाल लिया। मकु—शायद; सम्भवतः। बाढ़ी—वृद्धि; बढ़ोत्तरी। नांघि—लाँघकर। ओहि—उस। हाट—बाजार। सूझ—दिखाई देना। सुठि—अच्छा, सुन्दर। बनिज—व्यापार; वाणिज्य। लाख करोरन्हि—लाखों-करोड़ों। सहसन्हि—हजारों। ओनाई—कम होना। बेसाहना—खरीदना। बहोर—लौटना। गाँठ—अपने पास में। सांठ—पूँजी; सम्पत्ति। थोर—थोड़ी।

सप्रंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा विरचित 'पद्मावत' महा-काव्य के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने बनिजारे की प्रकरी (लघु प्रासंगिक कथा) की योजना की है। कवि का कथन है—

व्याख्या—चित्तौड़गढ़ का व्यापारियों का एक सार्थवाह (समुदाय) व्यापार करने के लिए सिहल द्वीप की ओर चल पड़ा। व्यापारियों के उस काफिले को चलता हुआ देखकर सीधा-सादा एक ब्राह्मण भी उसके साथ हो लिया—उसके पास कुछ भी न था। उसने तो किसी से कुछ रुपया कर्ज में ले लिया। इस आशा से कि शायद पूँजी में कुछ बढ़ोत्तरी हो जाये। मार्ग में उसने अनेक कष्ट सहन किए। व्यापारियों के साथ-साथ वह भी समुद्र को लांघकर सिहल द्वीप पहुँच गया। वहाँ बाजार को देखकर वह आश्चर्यान्वित रह गया। वहाँ अमूल्य वस्तुओं का अपार भण्डार था, उसे वस्तुओं का ओर-छोर ही दिखाई न दिया। वहाँ सभी वस्तुएँ मूल्यवान थीं तथा प्रचुर मात्रा में थीं। कोई भी वस्तु कम न थी। कोई भी वस्तु ऐसी न थी जिसका मूल्य थोड़ा होता। वहाँ पर बहुत सुन्दर तथा ऊँची श्रेणी का व्यापार था। धनी व्यापारियों को तो अपनी अभिलषित वस्तुएँ मिल गयीं, उन्होंने क्रय कर लिया और निर्धन व्यक्ति के पास धन पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण वह उन वस्तुओं को क्रय करने में असमर्थ रह जाता—उसके पास सिवाय मुँह ताकने के अन्य कोई चारा न था। वहाँ तो लाखों-करोड़ों का व्यापार हो रहा था, वहाँ हजारों रुपयों की वस्तुओं की सौदेबाजी नहीं थी। सभी लोगों ने अपनी मनचाही वस्तुएँ

खरीद लीं और वे घर को वापिस लौट पड़े किन्तु वह बेचारा ब्राह्मण क्या खरीदता ? उसके पास तो पूँजी बहुत थोड़ी थी।

विशेष—(1) जायसी ने सिंहलद्वीप के बाजार का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। सिंहल द्वीप आध्यात्मिक जगत् का प्रतीक है। अधिक मूल्य वाली तथा अधिक मात्रायुक्त वस्तुओं का दर्शन ही वहाँ के व्यापार की विशेषता है। शुभ कर्मरूपी सम्पत्ति के होने पर ही वहाँ क्रय किया जा सकता है। यह एक ब्रह्मलोक है वहाँ तो परमानन्द से सम्बन्धित वस्तुओं का ही क्रय-विक्रय सम्भव है। निम्न कोटि का लौकिक व्यापार वहाँ पर नहीं होता।

(2) **अलंकार**—अनुप्रास।

(2) झुरवै ठाढ़ कहाँ हौं आवा। बनिज न मिला रहा पछितावा॥
लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ। मूर गँवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ॥
का मैं मरन सिखावन सिखी। आएउँ मरै मीचु हुति लिखी॥
अपने चलत न कीन्हि कुबानी। लाभ न दीख मूर भौ हानी॥
का मैं बोवा जरम ओहि भूँजी। खोई चलेउँ घरहूँ कै पूँजी॥
जेहि बेवहरिया कर बेवहारू। का लै देव जो छेंकिहि बारू॥
घर कैसें पैठब मैं छूँछै। कौन उतर देबेउँ तिन्ह पूँछे॥
साथ चला सत बिचला भए बिच समुँद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं तू बिधि देहि अधार॥2॥

शब्दार्थ—झुरवै—निष्फल; व्यर्थ। वनिज—व्यापार। एहिहाटाँ—इस बाजार में। मूर—मूलधन। तेहिबाटाँ—उस मार्ग पर। मरन सिखावन—मृत्यु की-सी सीख। मीचु—मृत्यु। हुति लिखी—लिखी थी। कुवानी—कुवाणिज्य या बुरा व्यापार। भौ—हुआ। का मैं बोवा जरम ओहि भूँजी—क्या मैंने उस जन्म में भुना हुआ (अन्न) बोया था (मुहावरा)। बेवहरिया—व्यावहारिक, वोहरा, महाजन। वेवहारू—व्यवहार; ऋण, कर्ज। बारू—द्वार। साथ—सार्थवाह, काफिला। सत—सत्व; हिम्मत। भए बिच समुँद पहार—बीच में समुद्र और पहाड़ हो गए—चलना दूभर हो गया। आस निरास हौं फिरौं—आशा से निराश होकर मैं लौट रहा हूँ। विधि—ब्रह्मा; विधाता। अधार—आधार।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने निराश और व्यापार करने में असफल ब्राह्मण के पश्चात्ताप का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—वह निर्धन ब्राह्मण जब सिहलद्वीप के बाजार से पर्याप्त धन के अभाव में कोई वस्तु नहीं खरीद सका तो वह पछताने लगा—इसी सोच-विचार में भौंचक्का होकर खड़ा हो गया। वह सोचने लगा कि वह यहाँ व्यर्थ ही आया—क्यों आया ? उसे आने की आवश्यकता ही नहीं थी। किसी भी वस्तु का क्रय न कर सका—कोई व्यापार नहीं हो सका—इस प्रकार वह पछताने लगा। वह सोचने लगा कि उसे तो इस

व्यापार में लाभ होगा—ऐसी आशा लेकर आया था। उसे क्या पता था कि इस बाजार में आने पर अपना मूलधन भी नष्ट हो जायेगा और मार्ग में सब-कुछ समाप्त हो जायेगा। वास्तव में मैं तो अनिष्ट के मार्ग पर ही चला हूँ। क्या मैं मौत की शिक्षा पाकर ही यहाँ मरने के हेतु आया था ? क्या मेरे भाग्य में यही और इसी स्थिति में मरना लिखा था। अपनी जानकारी में मैंने जीवन में कोई बुरा कार्य भी नहीं किया। मैं देखता हूँ कि मुझे लाभ के स्थान पर हानि ही हो रही है। तभी तो मैं धन कमाने की अपेक्षा मूलधन को भी नष्ट करके यहाँ से जा रहा हूँ। वह सोचता है कि मैंने अपने पूर्व जन्म में ऐसा कौन-सा पाप का बीज बोया था जिसके फलस्वरूप लाभ होना तो दूर रहा; उल्टे घर की धनराशि को भी गँवाकर चल दिया। जिस महाजन से मैंने रुपया उधार लिया था उसे मैं घर का द्वार घेरने पर क्या दूँगा ? खाली हाथ मैं घर में कैसे प्रवेश करूँगा ! और घर-वालों के पूछने पर मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ! व्यापारियों के साथ करने से ब्राह्मण अपने सत से विचलित हुआ। बीच में समुद्र और पहाड़ विघ्न बने। आशा से दूर घोर हताश होकर ब्राह्मण चीख उठा—हे परमात्मा ! अब तू ही आश्रय है—मुझे आश्रय प्रदान कर कृतार्थ करो।

विशेष—(1) वर्णन की स्वाभाविकता ध्यातव्य है। यहाँ कवि ने संसार को हाट बताया है जिसमें शुभकर्मों का व्यापार होता है। शुभकर्म करने वाले ही संसार के बाजार में सफल होते हैं और लाभ कमाते हैं और अन्ततः स्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं। जो प्राणी ऐसा नहीं करता वह नरक को प्राप्त होता है।

(2) अलंकार— अनुप्रास।

(3) तबहिं बिआध सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहावा।।
बेंचै लाग हाट लै ओहीं। मोल रतन मानिक जहँ होहीं।।
सुआ को पूँछ पतिंग मँदारे। चलन देखि आछै मन मारे।।
बाँभन आइ सुआ सौं पूछा। दहुँ गुनवंत कि निरगुन छूँछा।।
कहु परबते जो गुन तोहिं पाहाँ। गुन न छिपाइअ हिरदै माहाँ।।
हम तुम्ह जाति बराभँन दोऊ। जातिहि जाति पूँछ सब कोऊ।।
पंडित हहु तो सुनावहु बेदू। बिन पूँछे पाइअ नहिं भेदू।।
हौं बाँभन औ पंडित कहु आपन गुन सोइ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै दून लाभ तेहि होइ।।3।।

शब्दार्थ—तबहि—तभी। बिआध—व्याध; शिकारी। कंचन बरन—सोने के रंग जैसा। अनूप—अद्भुत। मोल—मूल्य। सुआ को पूँछ पतिंग मदारे—वहाँ सुग्गे को कौन पूछे जो मदार का पतिंगा भर है—अर्थात् तुच्छ है। मदार (आक) के पौधे पर एक कीड़ा चिपका रहता है जो मदार की पत्ती खाता है। लगभग एक सप्ताह में वही सुन्दर तितली बन जाता है। इस तुच्छ कीड़े की ओर कोई ध्यान नहीं देता; उसमें सौंदर्य छिपा रहता है। इसी प्रकार उस सुग्गे अथवा तोते की ओर कोई नहीं देखता पर उसमें गुण छिपे हैं। चलन—व्यवहार; रीति। दहुँ—अथवा। परबते—सुग्गे के लिए

सम्बोधन। जात—जाति। दोऊ—दोनों।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महाकाव्य के बनिजारा खण्ड से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने ब्राह्मण द्वारा हीरामन तोते की खरीदारी का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—ब्राह्मण सोच-विचार कर ही रहा था कि एक व्याध एक तोते (हीरामन) को लेकर बेचने के लिए बाजार में ले आया। उस तोते का रंग स्वर्णिम तथा अनुपम था और बहुत ही सुन्दर शोभित हो रहा था। वह व्याध ऐसे बाजार में उस तोते को बेचने के लिए ले आया जहाँ महार्घ्य रत्नों तथा मणियों का व्यापार हो रहा था। ऐसे स्थल पर जहाँ बड़े-बड़े व्यापार हो रहे हों, वहाँ इस तुच्छ वस्तु को कौन पूछता ? बहुत से लोग बिना मोल-भाव पूछे और बात बिना किए ही वहाँ से आगे बढ़ जाते थे। उसी समय एक ब्राह्मण ने उस तोते से आकर पूछा कि तुम्हारे पास कोई गुण भी है अथवा वैसे ही गुणहीन हो। ब्राह्मण ने कहा कि हे तोते ! यदि तुम्हारे पास कोई ज्ञान है, गुण है तो उसे स्पष्ट करो। जो भी गुण हों उसे छिपाते नहीं हैं। हम तुम दोनों ब्राह्मण जाति के हैं। अपने जाति वाले से ही सब लोग आपसी बात कहते हैं। यदि तुम पण्डित हो तो तुम वेद सुनाओ, क्योंकि बिना पूछे हुए भेद नहीं जाना जा सकता। मैं ब्राह्मण हूँ और पण्डित हूँ, इसलिए तुम अपना गुण सुनाओ। विद्वान् के आगे कोई बात कही जाती है तो उससे दुगुना लाभ होता है अर्थात् विद्वान् तो जो बात कहता है—लोकमंगल एवं पाण्डित्य से परिपूर्ण होती है।

विशेष—(1) ब्राह्मण ने तोते की परीक्षा किस प्रकार की और उससे किस प्रकार बातचीत की—इस तथ्य की ओर कवि ने यहाँ संकेत किया है।

(2) **अलंकार**—अनुप्रास।

(4) तब गुन मोहि अहा हो देवा। जब पिंजर हुँत छूट परेवा॥
अब गुन कवन जो बँदि जजमाना। घालि मँजूसा बेंचै आना॥
पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा॥
दुइ मारग देखौं एहि हाटाँ। दैय चलावै दहुँ केहि बाटाँ॥
रोवत रकत भएउ मुख राता। तन भा पिअर कहौं का बाता॥
राते स्याम कंठ दुइ गीवाँ। तिन्ह दुइ फाँदि डरौं सुठि जीवा॥
अब हौं कंठ फाँदि गिव चीन्हा। दहुँ कै फाँद चाह का कीन्हा॥
पढ़ि गुनि देखा बहुत मैं है आगें डरु सोइ।
धुंध जगत सब जानि कै भूलि रहा बुधि खोइ॥4॥

शब्दार्थ—अहा—था। देवा—देवता; ब्राह्मण देवता। हुँत छूट परेवा—पक्षी मुक्त था। बँदि—बन्दी। जजमाना—यजमान। घालि—डालकर; बन्द कर। मँजूसा—मंजूषा; पिटारी। चहौं बिकाई—बिकना चाहता हूँ; बिकने वाला हूँ। दुइ मारग—बाजार के दो मार्ग—महंगा और रास्ता; आदर-निरादर। दैय—दैव; भाग्य। दहुँ—न जाने; पता नहीं। गीवाँ—ग्रीवा; गर्दन; कण्ठ में। सुठि—बहुत। जीवा—जीवन के

लिए। फांद—फन्दे; धारियाँ। चाह का कीन्हाँ—क्या करना चाहते हैं। धुन्ध—अन्धेरा; अन्धकार। बुधि—बुद्धि।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा विरचित 'पद्मावत' महाकाव्य के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने हीरामन तोते द्वारा ब्राह्मण को दिये गये उत्तर का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—हीरामन तोते ने ब्राह्मण से कहा—हे स्वामी! जब मैं मुक्ताकाश में विचरण करता था और पिंजड़े में बन्द नहीं था, तब मुझमें गुण था। अब तो हे यजमान! मैं पिंजरबद्ध हूँ—बन्दी हूँ। अब तो मुझमें कोई ऐसा गुण नहीं है क्योंकि अब तो मुझे पिंजरे में डालकर बाजार में बेचने के लिए इस व्याध द्वारा लाया गया है। वास्तविकता यह है कि गुणी व्यक्ति वही है जो पराश्रित न हो, क्योंकि पराश्रित होने से स्वाभिमान लुप्त हो जाता है—उसकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है, उसकी स्वतन्त्र भावनाएँ अपने में ही दबकर रह जाती हैं। यदि मैं पण्डित होता तो इस बाजार में बिकने नहीं आता; अब तो मैं बिकना चाहता हूँ, क्योंकि मैं अब पढ़ा-लिखा भूल चुका हूँ। इस बाजार में अब मुझे दो ही मार्ग स्पष्ट दिखायी देते हैं। दो मार्गों से तात्पर्य है—सज्जनता का मार्ग और दुष्टता का मार्ग, पता नहीं कहाँ और किस मार्ग पर चलना होगा। परमात्मा ही जाने, किस मार्ग पर चलना पड़ेगा। यदि किसी सज्जन व्यक्ति के मार्ग हर चलना पड़ा तो वह भले पर ही चलायेगा और यदि दुष्ट व्यक्ति से सम्पर्क हो गया तो वह दुष्ट मार्ग पर ही चलायेगा। कवि जायसी कहते हैं कि तोते ने बताया कि अब तो रोते-रोते मेरा मुख लाल हो गया है और पराधीनताजनित चिन्ताओं के कारण सारा शरीर पीला पड़ गया है, पराधीन होने के कारण और मैं क्या बात कहूँ? मेरे गले में जो यह काली और लाल लकीरें हैं, ये अब फन्दे के समान भयानक जान पड़ती हैं। अब तो मैंने गले की इन फाँसियों को पहचान लिया है। कौन जाने क्या हो और अब हमें क्या करना है। मैंने पढ़-गुनकर सब-कुछ देख लिया, कुछ भी लाभ नहीं हुआ, भविष्य का डर ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। सब जानकर भी मेरे लिए संसार में अन्धकार है। अब तो बुद्धि खोकर सब भूल गया हूँ। मैं अब भ्रमित और चकित-सा हो रहा हूँ।

विशेष—(1) हीरामन तोते की दयनीय स्थिति का यहाँ चित्रण है।

(2) **अलंकार**—अनुप्रास।

(5) सुनि बाँभन बिनवा चिरिहारू। करु पंखिन्ह कहँ मया न मारू॥
कत रे निठुर जिउ बधसि परावा। हत्या केर न तोहि डरु आवा॥
कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मँसु खवा॥
आवहिं रोइ जाहि कै रोवना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोवना॥
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखहिं माँसु पराएँ माँसू॥
जौं न होत अस पर मँस खाधू। कत पंखिन्ह कहँ धरत बिआधू॥
जौं रे व्याध पंखी निति धरई। सो बेंचत मन लोभ न करई॥
बाँभन सुआ बेसाहा सुनि मति बेद गरंथ।
मिला आइ कै साथिन्ह भा चितउर के पंथ॥5॥

शब्दार्थ—बिनवा चिरिहारू—चिड़ीमार से विनय की। मया—दया। कत—कैसे। बधसि—बधते हो। परावा—पराया; दूसरे का। पंखि खाधुक—पक्षी खाने वाले। कहिग्र—कहा जाय। पर मँसुखवा—पराया माँस खाते हैं। पोखहिं माँसु—ग्रपने माँस का पोषण करते हैं। पर मँस खाधू—दूसरे का माँस खाने वाले। धरत—पकड़ता है। बेसाहा—मोल लिया। सुनि मति बेद गरंथ—(तोते की बुद्धि) वेदादि ग्रन्थों में है, यह जानकर। चित उर—चित्तौड़। पन्थ—मार्ग।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महा-काव्य के 'बनिजारा खण्ड' से ग्रवतरित है। इस ग्रवतरण में ब्राह्मण द्वारा पहले तो व्याध को उपदेश दिलाया गया है, फिर तोते का क्रय कराया गया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—ब्राह्मण ने तोते की बात को सुनकर व्याध से प्रार्थना की कि तुम पक्षियों पर दया करो, तुम इनको क्यों मारते हो? तुम बहुत ही कठोर स्वभाव के व्यक्ति हो जो दूसरों के लिए जीवों की हत्या करते हो। इस प्रकार की हत्या करने से तुम्हें भय नहीं लगता? इस पर बहेलिये ने उत्तर दिया कि मैं निष्ठुर नहीं हूँ, वरन् निष्ठुर तो वे मनुष्य हैं जो दूसरों का माँस खाते हैं, ग्रपने ग्रास्वादन की तृप्ति परमाँस-भक्षण से करते हैं ग्रौर पक्षियों की हत्या का दोष दूसरों के सिर पर मढ़ते हैं। मनुष्य जन्म लेते समय भी रोता है ग्रौर जाते समय भी रोता है—फिर भी यह इतना बुरा है कि तुच्छ विश्राम ग्रौर सुख-भोगों को छोड़ने में रुचि नहीं लेता है। इतना ही नहीं, प्राणी यह भली-भाँति जानता है कि यह शरीर नाशवान है, क्षणिक है; सदा रहने वाला नहीं है, इतने पर भी यह दूसरों का माँस-भक्षण कर जीवन-यापन करना चाहता है। यदि वे दूसरों का माँस-भक्षण न करें तो इन पक्षियों की हत्या क्यों हो? व्याध को भला क्या ग्रावश्यकता है कि वह पक्षियों को पिंजड़े में रखे (व्याध को तो माँसभक्षी मनुष्यों की तृप्ति के लिए ही पक्षियों को पकड़ना पड़ता है ग्रन्यथा इस कुकृत्य की कोई ग्रावश्यकता नहीं)। इस प्रकार तोते की वेदग्रन्थों में वर्णित विषयानुकूल बुद्धि-कौशल को सुनकर ब्राह्मण ने उस तोते को खरीद लिया ग्रौर ग्रपने साथियों के साथ हो लिया जो चित्तौड़ की ग्रोर मार्ग में जा रहे थे।

विशेष—(1) जायसी ने बहेलिये के माध्यम से ग्रपने विचारों की ग्रभिव्यक्ति का है। माँस-भक्षण को वह ग्रच्छा नहीं समझते।

(2) बौद्ध धर्म का बढ़ता हुग्रा प्रभाव यहाँ देखा जा सकता है।

(3) **ग्रलंकार**—ग्रनुप्रास।

(6) तब लगि चित्रसेन सिव साजा। रतनसेनि चितउर भा राजा॥
ग्राइ बात तेहि ग्रागें चली। राजा बनिज ग्राव सिंघली॥
हहिं गजमोंति भरीं सब सीपी। ग्रौर बस्तु बहु सिंघलदीपी॥
बाँभन एक सुग्रा लै ग्रावा। कंचन बरन ग्रनूप सोहावा॥
राते स्याम कंठ दुइ काँठा। राते डहन लिखे सब पाठा॥

औ दुइ नैन सोहावन राता। राता ठोर अमिअ रस बाता।।
मस्तक टीका काँध जनेऊ। कबि बिआस पंडित सहदेऊ।।
बोल अरथ सों बोलै सुनत सीस पै डोल।
राजमँदिर महँ चाहिअ अस वह सुआ अमोल ।।6।।

शब्दार्थ—चित्रसेन—चित्तौड़ का राजा; रतनसेन का पिता। सिव साजा—शिव में सज्जित हो गये; लीन हो गये; स्वर्गवासी हो गये। बनिज आव सिंघली—सिंघलद्वीप का व्यापारिक सामान आया है। काँठा—कण्ठे; गले की धारियाँ। डहन—पंख; डैने। लिखे सब पाढा—सभी पाठ लिखे हैं। अर्थात् तोते के पंख लाल हैं कि उन-पर लाल स्याही से पाठों के शीर्षक लिखे हैं। मध्यकालीन हस्तलेखों में प्रायः काली स्याही से मूल और लाल से शीर्षक लिखे जाते थे। यहाँ तात्पर्य यह है कि तोते के लाल पंख इसका प्रमाण हैं कि उसमें नीति धर्मपरक ज्ञान-भरा है। ठोर—चोंच। अमिअ—अमृत। बिआस—वेदव्यास। सहदेऊ—सहदेव (पाण्डवों में एक)—वह व्यास जैसा कवि और सहदेव जैसा पण्डित है। अरथ सों—अर्थ-गर्भित। सीस सब डोल—सभी उसके वचनों को सुनकर सिर हिलाने लगते हैं। अमोल—मूल्यवान और बहुमूल्य।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महा-काव्य के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। इस अवरण में कवि ने राजा रतनसेन के हाथ तोते को खरीदे जाने का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—व्यापारी लोग जब से सिंहलद्वीप की यात्रा कर वाणिज्य करने के लिए गये थे और लौटकर चित्तौड़ आये, उस अवधि में राजा चित्रसेन के शव को चिता पर सजा दिया गया। अर्थात् राजा चित्रसेन स्वर्गवासी हो गये और रतनसेन चित्तौड़ के अधीश्वर हो गये। राजा रतनसेन के सम्मुख इस प्रकार की बात चली कि हे राजन! सिंहलद्वीप से चित्तौड़ के व्यापारी लौटकर आ गये हैं और वे सिंहलद्वीप से अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में लाये हैं, जिनमें गजमोतियों से भरी सीपियाँ लाये हैं। एक ब्राह्मण अनुपम स्वर्ण वर्ण से युक्त एक तोते को लाया है। उसके कण्ठ में लाल और श्याम रंग की दो कण्ठियाँ हैं जो कण्ठहार के समान सुशोभित हैं। उसके लाल-लाल पंख मानो ज्ञान-विज्ञान के पाठों के रूप में विद्यमान हैं। उसके दो लाल-लाल नेत्र बहुत ही सुन्दर दिखायी देते हैं। उस तोते की चोंच लाल है; उसकी बातों में अमृत-रस झरता है। उसके मस्तक पर टीका है और उसके कन्धे पर जनेऊ जैसी रेखाएँ हैं। वह ज्ञान में व्यास तथा पाण्डित्य में सहदेव है। वह तोता जब बोलता है तो उसके वचन अर्थपूर्ण होते हैं जिन्हें सुनकर सभी लोग सिर हिलाते हैं अर्थात् उसकी योग्यता की मन-ही-मन भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और उसके वाग्वैदग्ध्य से प्रभावित हो जाते हैं; वह तोता अमूल्य है, उसे तो राजमहल में ही रहना चाहिए (वह तोता एक अनुपम रत्न है जिसे राजमहल में ही रखना चाहिए।)

विशेष—(1) जायसी ने तोते के रूप का जो वर्णन किया है, वह ब्राह्मण के सर्वथा अनुरूप है। जैसे कन्धे पर जनेऊ, मस्तक पर टीका आदि। इससे संकेत मिलता है

कि जायसी के हृदय में ब्राह्मण के प्रति अतीव श्रद्धा है।

(2) कवित्व, वाग्वैदग्ध्य तथा पाण्डित्य का अपूर्व संयोग तोते में दिखलाया गया है।

(7) भई रजाएसु जन दौराए। बाँभन सुआ बेगि लै आए॥
बिप्र असीसि बिनति औधारा। सुआ जीउ नहिं करौं निनारा॥
पै यह पेट भएउ बिसवासी। जेहि नाए सब तपा सँन्यासी॥
दारा सेज जहाँ जेहि नाहीं। भुइँ परि रहै लाइ गिव बाहीं॥
अंध रहै जो देख न नैना। गूँग रहै मुख आव न बैना॥
बहिर रहै सरवन नहिं सुना। पै एक पेट न रह निरगुना॥
कै कै फेर अंत बहु दोषी। बारहिं बार फिरै न सँतोषी॥
सो मोहिं लिहें मँगावै लावै भूख पिआस।
जौं न होत अस बैरी तौ केहि काहू कै आस॥7॥

शब्दार्थ—रजाएसु—राजादेश; राज्ञाज्ञा। जन—सेवक; नौकर। बिनति—विनीत; प्रार्थना। औधारा—रखी। सुआ जीउ—तोते को प्राण से। निनारा—अलग। बिसवासी—शैतानी चाल का; विश्वासघाती। नाए—झुकाए। दारा—स्त्री। परि रहै—पड़ रहे; सो रहे। लाइ गिव बाहीं—गले के नीचे बाँह रखकर। जो—यदि। पै—किन्तु। निरगुना—ऐब करने वाला। कै-कै फेर—कितनी ही बार। दोषी (दोखी)—बुराई। बारहिं बार—द्वार-द्वार पर। मँगावै—मँगवाता है।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महाकाव्य के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। राजा की आज्ञा पाकर राजभृत्य दौड़े और ब्राह्मण एवं तोते को अपने साथ ले आये। ब्राह्मण ने पेट के लिए तोते को बेच दिया। इसी प्रसंग का वर्णन प्रस्तुत अवतरण में हुआ है। कवि का कथन है—

व्याख्या—जब राजा रतनसेन ने उस तोते के विषय में सुना तो तुरन्त राजा की आज्ञा के अनुसार दस मनुष्यों को उस तोते को लाने के लिए भेजा गया। लोग उस ब्राह्मण तथा तोते को शीघ्रतापूर्वक ले आये। ब्राह्मण ने वहाँ आकर राजा रत्नसेन को आशीर्वाद दिया और विनयपूर्वक कहा कि हे राजन! यह तोता मेरे जीवन का एकमात्र आधार है। मैं इस तोते को अपने से पृथक् नहीं कर सकता; इस तोते के अलग हो जाने पर मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है। इतने पर भी यह पेट बड़ा विश्वासघाती है। इसीने तपस्वियों और मुनीश्वरों तक को झुका दिया है। कहने का अभिप्राय है कि व्यक्ति भूखा नहीं रह सकता। जिस प्राणी के पास सेज और बिस्तर नहीं है, वह प्राणी पृथ्वी पर सिर के नीचे हाथ रखकर ही सो जाता है। अन्धा व्यक्ति भी आँखों के अभाव में जीवन-यापन कर लेता है, गूँगा व्यक्ति भी संकेतों के सहारे काम चला लेताहै। बहरा व्यक्ति भी बिना सुने काम की बातें समझ लेता है; किन्तु यह पेट बड़ा ही निष्ठुर है। यह भूख के गुण और उसके प्रभाव से प्राणी को क्षमा नहीं करता। कहने का भाव यह है कि पेट अपने स्वाभाविक गुणों का किसी भी परिस्थिति में त्याग नहीं करता है। पेट की क्रिया सभी को चलानी पड़ती है। कवि का कथन है—यह पेट इतना निर्लज्ज है कि बार-बार भटकता

है, द्वार-द्वार चक्कर लगाता है किन्तु सन्तोष नहीं प्राप्त करता। ब्राह्मण का कथन है कि यह पेट ही मुझे भीख मँगवाता है और भूख-प्यास लगवाता है। यदि यह पेट ऐसा बैरी नहीं होता तो कोई क्यों किसी के आश्रय में रहता।

विशेष—(1) प्रस्तुत अवतरण में कवि ने स्पष्ट किया है कि प्राणी पेट के कारण ही संसार में अनेक पापपूर्ण कार्य करता है।

(2) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति।

(8) सुअैं असीस दीन्ह बड़ साजू। बड़ परताप अखंडित राजू॥
भागवंत बड़ बिधि औतारा। जहाँ भाग तहँ रूप जोहारा॥
कोउ केहु पास आस कै गौना। जौ निरास दिढ़ आसन मौना॥
कोउ बिन पूँछे बोल जो बोला। होइ बोल माँटी के मोला॥
पढ़ि गुनि जानि वेद मत भेऊ। पूँछी बात कही सहदेऊ॥
गुनी न कोई आपु सराहा। जौं सो बिकाइ कहा पै चाहा॥
जौं लहि गुन परगट नहिं होई। तौ लहि मरम न जानै कोई॥
चतुरबेद हौं पंडित हीरामनि मोहि नाँउ।
पदुमावति सों मेरवौं सेव करौं तेहि ठाँउ॥8॥

शब्दार्थ—सुअैं—तोता; सुग्गा। भागवंत बड़ बिधि औतारा—विधाता ने तुझे बड़ा भाग्यवान पैदा किया है। जोहारा—प्रणाम करता है। आस कै—आशा करके; आशा लेकर। गौना—जाता है। दिढ़—दृढ़ होकर। भेऊ—भेद; रहस्य। जौं—यदि। कहा पै चापा—अपने सम्बन्ध में कहना ही पड़ता है। जौ लहि—जबतक। चतुरवेद—चारों वेद। मेरवौं—मिलाऊँगा। ठांउ—स्थान; जगह।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महाकाव्य के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने तोते से राजा को आशीर्वाद दिलाया है।

व्याख्या—तोते ने राजा को आशीर्वाद दिया कि आप महान् ऐश्वर्यशाली हों, आपका यश विस्तीर्ण हो तथा साम्राज्य अखण्ड हो। हे राजन ! आप बड़े भाग्यशाली हैं, विधाता ने आपको अवतार के रूप में यहाँ अवतरित किया है। आप भाग्यशाली तथा रूपवान दोनों ही हैं। जहाँ भाग्य होता है वहाँ रूप स्वतः ही प्रणाम करता है। आपमें भाग्य और रूप दोनों का ही अनुपम संयोग है। जब कोई किसी के पास जाता है तो किसी आशा से ही जाता है। जो कोई आशा नहीं रखता है वह अपने आसन पर स्थिर और मौन धारण किये रहता है। यदि कोई किसी से पूछे ही बिना बोलता है तो उसका वचन मिट्टी के मोल हो जाता है। अर्थात् उसके वचन पर कोई ध्यान नहीं देता है। सहदेव जी बड़े ज्ञानी थे, इसीलिए वे पूछने पर ही उत्तर देते थे। जो गुणवान होते हैं वे अपने आप अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं किन्तु जो बिका हुआ है, वह तो अपनी बात कहना ही चाहेगा। ऐसी स्थिति में गुणों का प्रकटीकरण परम अपेक्षित है। क्योंकि जबतक वह स्वयं अपने गुणों को प्रकट नहीं करेगा तब तक कोई दूसरा व्यक्ति उसके रहस्य अथवा भेद को किस प्रकार से जान सकेगा ? कवि जायसी कहते हैं कि मैं (तोता) चारों वेदों

का पण्डित हूँ, मेरा नाम ही हीरामन है। मैं आपको 'पद्मावती' से मिला दूँगा और उसी स्थान पर आपकी सेवा-सुश्रूषा करूँगा।

विशेष—(1) यहाँ कवि ने तोते के वाग्वैदग्ध्य का चित्रण बहुत सुन्दर ढंग से किया है।

(2) गुणीजन की विशेषता की ओर लेखक ने निर्देश किया है कि वे कभी अपनी प्रशंसा स्वयं नहीं करते किन्तु दयनीय स्थिति में (बिक्री होने पर) उन्हें अपने परिचय तथा प्रशंसा आदि का प्रकाशन स्वयं ही करना पड़ता है।

(9) रतनसेनि हीरामन चीन्हा। एक लाख बाँभन कहँ दीन्हा।।
बिप्र असीसा कीन्ह पयाना। सुआ सो राजमँदिर महँ आना।।
बरनौं काह सुआ कै भाखा। धनि सो नाँउ हीरामनि राखा।।
जौं बोलै तो मानिक मूँगा। नाहिं तो मौन बाँध होई गूँगा।।
जौं बोलै राजा मुख जोवा। जनहुँ मोति हिअ हार पिरोवा।।
जनहुँ मारि मुख अंब्रित मेला। गुर होई आपु कीन्ह चह चेला।।
सुरुज चाँद कै कथ्था कहा। पेम क गहन लाइ चित रहा।।
जो जो सुनै धुनै सिर राजा प्रीति क होइ अगाहु।
अस गुनवंत नाहिं भल सुअटा बाउर करिहै काहु।।9।।

शब्दार्थ—चीन्हा—पहचान लिया। पयाना—जाना; प्रयाण। बरनौं—वर्णन करूँ। भाखा—बोलना। नाँउ—नाम। पिरोवा—पिरोना। सुरुज—सूरज। धुनै सिर—सिर धुनना; पछताना। गुनवन्त—गुणवान्। सुअटा—तोता। बाउर—बावली। काहु—कभी भी।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' महाकाव्य के 'बनिजारा खण्ड' से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने हीरामन तोते की वाक्-कुशलता एवं राजा के हृदय में अनुभूति होने के विषय में लिखा है। कवि का कथन है—

व्याख्या—राजा रतनसेन ने हीरामन तोते को एक गुणी के रूप में पहचान लिया। राजा ने उस ब्राह्मण को एक लाख मुद्राएँ दीं। ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया और वहाँ से प्रस्थान किया। उस तोते को राजमहल में लाया गया। जायसी कहते हैं कि वह तोते की वाणी का वर्णन करने में असमर्थ हैं। जिसने उस तोते का नाम हीरामन रखा, वह धन्य है। तोता जो कुछ भी बोलता था, राजा उसका मुँह ताकता ही रह जाता अर्थात् वह पूर्ण रूप से प्रभावित हो गया। मानो राजा के हृदय में मोतियों का हार गूँथा जा रहा हो। दूसरे शब्दों में, तोते के अनमोल वचनों की मोतियों जैसी अनुभूति राजा के हृदय में हो रही थी। उसके वचन माणिक्य और मूँगों के सदृश थे। अवसर पड़ने पर ही वह तोता बोलता था। अन्यथा वह गूँगे के समान मौन धारण कर लेता। उस तोते की वाणी के माधुर्य के विषय में बतलाते हैं कि उसकी वाणी में जैसे अमृत घोल दिया हो। उसके प्रभावपरक वचनों से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह तोता स्वयं गुरु हो

ग्रौर वह ग्रपने नीतिपरक एवं उपदेशपरक वचनों से संसार को शिष्य बनाना चाहता हो। उस तोते ने सूर्य-चन्द्र ग्रर्थात् प्रेम-प्रेमिका की कथा का जो वर्णन किया, राजा ने प्रेम की कहानी को हृदय में एकाग्रतापूर्वक ग्रहण किया। जो भी उसकी कहानियों को सुनता है वह सिर धुनने लगता है। राजा के हृदय में प्रेम की गहनता बढ़ती गई। उस तोते का भी ऐसा गुणी होना ग्रच्छा नहीं है कि वह किसी को भी (जो सुने) पागल बनाकर ही छोड़े। ग्रर्थात् उसे प्रेम का मतवाला ही बना दे।

विशेष—(1) 'चन्द्र-सूर्य' के संकेत से पद्मावती ग्रौर रतनसेन की ग्रोर संकेत किया गया है।

(2) जायसी ने रतनसेन को साधक के रूप में तथा तोते को गुरु के रूप में बतलाया है। गुरु ग्रपने शिष्य को संकेत रूप में ही उपदेश देता है। उपदेशों को एकग्र-चित्त होकर सुनने में शिष्य साधना के मार्ग पर ग्रग्रसर होता है—श्रद्धा तथा ग्रनुभूति उसके हृदय में स्थान पाते हैं—यही उसका लक्ष्य होता है।

(3) प्रेम की पीर की सच्ची ग्रनुभूति ही बावला होना है—यही सूफी प्रेम की विशेषता है।

(4) **ग्रलंकार**—उत्प्रेक्षा।

सूरदास

भक्तकवि सूरदास भक्तिकाल की सगुण भक्तिकाव्य की उपशाखा—कृष्ण काव्य के प्रमुख कवियों में ग्रपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। महात्मा सूरदास का जन्म सम्वत् 1535 में दिल्ली के निकट सीही ग्राम में हुग्रा था। वे जन्मांध थे। ग्रारम्भ में वे दैन्य भावनापूर्ण भक्ति के पद गाते थे। कालान्तर में उनकी भेंट गऊघाट पर वल्लभाचार्यजी से हुई। उन्होंने सूरदास को बाल एवं किशोर कृष्ण के लीलागान की दीक्षा दी ग्रौर तभी से वे कृष्ण के लीलागान में संलग्न हो गए। उनकी मृत्यु संवत् 1642 में हुई।

सूरदास द्वारा रचित 25 रचनाग्रों का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ तो 'सूर-सागर' के ही ग्रंश हैं एवं कुछ ग्रप्रमाणिक हैं। ग्रधिकांश विद्वान् सूरदास की तीन प्रामाणिक रचनाएँ मानते हैं—सूर सारावली, साहित्य लहरी तथा सूरसागर। सूर सारावली में वृहत् होली गीत के रूप में रचित 1107 छन्द हैं। इसमें ग्राद्यान्त एक ही छन्द का प्रयोग है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ग्रादि इसे ग्रप्रामाणिक मानते हैं। साहित्य लहरी में रस, ग्रलंकार, नायिका-भेद का प्रतिपादन करने वाले 118 पद हैं। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ग्रादि इसे भी सूर की प्रामाणिक रचना नहीं मानते हैं। सूरसागर सूरदास की ग्रमर कीर्ति का ग्राधार है। इसकी सैकड़ों प्रतिलिपियाँ मिलती हैं जिनके दो वर्ग हैं—(1) लीलाग्रों का संग्रह, (2) द्वादश स्कन्धी रूप। इनमें लीलावादी प्रतियाँ प्राचीनतर

हैं। जनश्रुति के आधार पर सूरदास ने सवा लाख पदों की रचना की थी किन्तु 'सूर-सागर' में प्राप्त पदों की संख्या दस हजार से अधिक नहीं है। 'सूरसागर' पर श्रीमद्-भागवत् का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।

सूर का काव्य ब्रजभाषा का शृंगार है। उसमें विभिन्न राग-रागिनियों के अंतर्गत भक्त-हृदय के भावपूर्ण उद्गार व्यक्त हुए हैं, जिनमें श्रीकृष्ण, गाय, वृन्दावन, गोकुल, मथुरा, यमुना, मधुवन, मुरली, गोप-गोपी आदि की महत्ता के साथ-साथ सम्पूर्ण ब्रज-जीवन, ब्रज संस्कृति एवं ब्रज-सभ्यता मुखरित होकर गुंजायमान हो रही है। सूर का प्रत्येक पद कृष्ण-भक्ति के दधि-माखन से ओत-प्रोत है और सूर के सभी भाव भावुक हृदय की गहन अनुभूतियों के भण्डार हैं।

सूर के काव्य का वर्ण्य-विषय कृष्ण की लीलाएँ ही हैं—कृष्ण की रूप-माधुरी, राधा-कृष्ण के रति-रंग के प्रसंग, विविध लीलाएँ—दान लीला, मान लीला, गोदोहन, चीरहरण, गोवर्धन धारण, रासलीला आदि, मुरली प्रसंग, भ्रमरगीत प्रसंग के अन्तर्गत विप्रलम्भ शृंगार सूर के काव्य का प्रमुख विषय है। इसके अतिरिक्त विनयपरक पदों में भक्त की समर्पण भावना, इष्टदेव की महत्ता एवं आत्म-लघुता का उद्घाटन भी विशद एवं मार्मिक रूप में हुआ है। बालक कृष्ण की बाल-मनोवृत्तियाँ और बाल-चेष्टाओं का वर्णन सूर ने अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक रूप में किया है। बालकों के स्वभाव का मनो-वैज्ञानिक वर्णन करने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। इसी प्रकार शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का उद्घाटन सूर ने जितनी विविधता एवं विशदता से किया है, वैसा कोई अन्य कवि नहीं कर सका है। वात्सल्य और शृंगार के तो वें सम्राट् ही हैं। इसीलिए तो सूरदास को 'सूर के' नाम से सम्बोधित किया जाता है।

सूरसागर विभिन्न भावोर्मियों से तरंगायित है। उसमें कहीं प्रेम, कहीं असूया, कहीं ईर्ष्या, कहीं वितर्क, कहीं क्षोभ, कहीं स्पर्धा, कहीं क्रोध, कहीं उत्साह, कहीं रति, कहीं हास, कहीं शोक, कहीं विस्मय, कहीं जुगुप्सा, कहीं भय आदि अनेक भावों की सुन्दर और मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। सूर के पद सहृदयता, सरसता और भावुकता के भण्डार हैं जिनमें विविध भावों की योजना सुव्यवस्थित ढंग से हुई है। प्रत्येक पद मर्मस्पर्शी एवं हृदय-द्रावक बन गया है। यही कारण है कि सूर के पदों में विविध भावों के साथ-साथ विविध रसों की भी सुष्ठु योजना हुई है। यहाँ विविध रसों के चित्र प्रस्तुत हैं—

1. संयोग शृंगार

राधा रुचि-रुचि सेज सँवारति।
तापर सुमन सुगन्ध बिछावति बारम्बार निहारति॥
भवन गवन करि हैं हरि मेरे हरष दुखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुँ अचानक ही कहि सुभग पांवड़े डारति॥
इहि अभिलाखहिं मैं हरि प्रगटे निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्रीराधा माधौ को सूर उनहिं जिय जानी॥

2. वियोग शृंगार

पिया बिनु नागिनि कारी रात।
जो कहुँ जामिनी उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥
जंत्र न फुरत मन्त्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु विकल विरहिणी मुरि-मुरि लहरै खात॥

3. वात्सल्य रस

(क) किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
(ख) जेंवत स्याम नन्द की कनिया।

4. शान्त रस

चरण कमल बन्दौ हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अन्धे कूँ सब-कछु दरसाई॥
बहिरौ सुनैं मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बन्दौ तोहि पाई॥

5. भयानक रस

भहरात झहरात दावानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अन्दोर बन धरनि आकाश चहुँ पास छायौ॥
बरत बन बांस, थहरत कुसकांस, जरि उड़त है माँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटति लपट फूल फल, चट-चटकि फटत लट लटकि द्रुमदल नवायौ॥

इनके अतिरिक्त अन्य रसों की भी सशक्त अभिव्यक्ति सूर के काव्य में मिलती है।

सूर का काव्य ब्रज प्रदेश की सुरम्य प्रकृति का रमणीक स्थल है। इसमें ब्रज की प्रकृति-सुन्दरी का मनोहारी नर्तन पद-पद पर सुनाई पड़ता है, उसकी रूप-माधुरी स्थान-स्थान पर दिखायी देती है और उसका आनन्दोल्लास पूर्ण मधुर कलरव प्रत्येक पद में गुंजायमान हो रहा है। कालिन्दी कूल, कदम्ब, करील-कुञ्ज, षट्ऋतु वर्णन आदि के साथ ही प्रभात, वन, द्रुम, लता, पुष्प, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या आदि का बड़ा सरस एवं सुन्दर वर्णन हुआ है। शास्त्रीय दृष्टि से उद्दीपन, अलंकार, संवेदना रूप में प्रकृति का चित्रण मनोरम बन पड़ा है।

सूर काव्य की भाषा ब्रजभाषा है जो साहित्यिक है। उसमें संस्कृति, पाली, अपभ्रंश आदि के अतिरिक्त गुजराती, राजस्थानी एवं पंजाबी भाषा के शब्द भी मिलते हैं। खड़ी बोली, अवधी, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी आदि तत्कालीन हिन्दी बोलियों के शब्द भी उनकी भाषा में व्यवहृत हुए हैं। अरबी, फारसी और तुर्की—विदेशी भाषाओं के शब्दों की छटा भी उनकी कविता में देखी जा सकती है। झगुली, झाम, ढबरी, छैया, टूक-टूक, बोहनी, झकोर, रुनक-झुनक जैसे देशज शब्दों की बहुतायत भी देखी जा सकती है। इस प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा को समर्थ, सशक्त एवं समृद्ध बनाने का भरपूर, प्रयास किया है। मुहावरे-लोकोक्तियों का प्रयोग भी उनकी कविता में प्रचुर मात्रा में मिलता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—तीनों शब्दशक्तियों का प्रयोग सफलतापूर्वक हुआ है।

सूर के काव्य में वस्तु-विन्यास का अभाव है जिसकी पूर्ति उन्होंने अलंकारयोजना

द्वारा की है। रूप-सौन्दर्य के चित्रण में उन्होंने परम्परागत अलंकारों को अपनाया है। उनके काव्य में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का बाहुल्य है। सूर उक्ति-वैचित्र्य एवं वाग्वैदग्ध्य के कुशल चितेरे हैं। इसी कारण उनके काव्य में ऐसे अलंकारों की बहुलता है जो दुरारूढ़ कल्पना के साथ-साथ वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य के द्योतक हैं। सूर ने इसीलिए उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, रूपकातिशयोक्ति आदि अर्थालंकारों के साथ-साथ वर्णन-वैचित्र्य दिखाने के लिए श्लेष, वीप्सा, वक्रोक्ति, यमक आदि अलंकारों का भी उपयोग किया है। 'सूरसागर' अर्थालंकारों एवं 'साहित्य लहरी' शब्दालंकारों की अक्षय-निधि है। उनके दृष्टिकूट पदों में श्लेष और यमक की प्रचुरता है। सूर के ये सभी अलंकार भाषा को बोझिल न करके सुन्दर भावाभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुए हैं।

सूरदास गीति कवि हैं और 'सूरसागर' की रचना उन्होंने गेय शैली के रूप में की है। उनके पदों में अनेक राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। संगीतात्मकता प्रचुर मात्रा में है।

बाल-वर्णन

(1) चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नन्द-घरनि गावति, हलरावति, पलना पर हरि खेलत।
जे चरनारबिंद श्री-भूषन, उर तैं नैंकु न टारति।
देखौं धौं का रस चरननि मैं, मुख मेलत करि आरति।
जा चरनारबिंद के रस कौं सुर-मुनि करत विषाद।
सो रस है मोहूँ कौं दुरलभ, तातैं लेत सवाद।
उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ।
सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।
बढ़्यौ बृच्छ बट सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ-तहाँ आघात।
करुना करी, छाँड़ि पग दीन्हौ, जानि सुरनि मन संस।
सूरदास प्रभु असुर-निकंदन, दुष्टनि कैं उर गंस॥1॥

शब्दार्थ—हलरावति—हिलाती हैं। श्री भूषन—लक्ष्मी के लिए आभूषण है। करि आरति—कष्ट उठाकर; आ+रति—प्रेम से, यह अर्थ भी हो सकता है। चरनारबिंद—चरण-कमल। विषाद—दुःख। सवाद—स्वाद; आनन्द। उछरत—उछलना। धराधर—पर्वत। गगन—आकाश। उतपात—उत्पात; खलबली। आघात—चोट। पग—पैर। सुरनि—देवता।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' से अवतरित है। इसमें कवि ने श्रीकृष्ण के पैर का अंगूठा मुँह में डालकर पीने एवं उससे ब्रह्माण्ड में खलबली हो जाने वाले दृश्य का चित्रण कर प्रकारान्तर से श्रीकृष्ण के अलौकिकत्व की ओर संकेत किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—श्रीकृष्ण चरण पकड़कर अंगूठा मुख में डाल रहे हैं। यशोदाजी मधुर

गीत गा रही हैं, झूला झुला रही हैं और हरि पालने में खेल रहे हैं। जो चरण-कमल लक्ष्मीजी के आभूषणस्वरूप हैं और जिन्हें वे तनिक भी अपने वक्षस्थल से हटाती नहीं हैं उनमें भला देखो तो कौन-सा रस है कि श्रीकृष्ण उन्हें इतनी लालसा से मुँह में डाले रहते हैं। जिन चरण-कमलों के रस के मारे देवता और मुनि दुःखी रहते हैं, वह रस मुझे भी दुर्लभ है, किन्तु वे उसका आस्वादन कर रहे हैं। इससे प्रलय का सन्देह उत्पन्न हो गया, क्योंकि प्रलय में भी बालरूप विष्णु पालने में पड़े अंगूठा चूसते होंगे ! तब सागर उछलने लगा, पर्वत काँपने लगे, कच्छप की पीठ अकुलाने लगी, शेषनाग के हजार फण काँपने लगे, अक्षयवट बढ़ने लगा; देवता व्याकुल हो उठे; आकाश में गड़बड़ मच गयी। महाप्रलय के बादल जहाँ-तहाँ बज्रपात करते हुए उमड़ आए। देवताओं के मन का संशय जानकर असुरों का नाश करने वाले प्रभु ने कृपा करके पैर छोड़ दिए, इससे दुष्टों के मन में वेदना उत्पन्न हुई।

विशेष—(1) श्रीमद्भागवत में भी श्रीकृष्ण के अंगूठा मुख में डालने के फलस्वरूप प्रलय का होना वर्णित है। यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के अलौकिकत्व का निरूपण किया है।

(2) भाषा ओजपूर्ण एवं प्रभावशाली है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, रूपक।

(2) जसुदा मदन गुपाल सोवावै।
देखि सयन-गति त्रिभुवन कंपै, ईस बिरंचि भ्रमावै।
असित-अरुन-सित आलस लोचन उभय पलक परि आवै।
जनु रवि गत संकुचित कमल जुग, निसि अलि उड़न न पावै।
स्वास उदर उससित यौं, मानौ दुग्ध-सिंधु छबि पावै।
नाभि-सरोज प्रगट पदमासन उतरि नाल पछितावै।
कर सिर-तर करि स्याम मनोहर, अलक अधिक सोभावै।
सूरदास मानौ पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावै ॥2॥

शब्दार्थ—सयन-गति—सोने का ढंग। कंपै—कम्पित हुआ। असित—काला। अरुन—लाल। सित—श्वेत; सफेद। उभय—दोनों। जुग—युग; दो। रविगत—सूर्य के चले जाने पर। पन्नगपति—शेषनाग।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' से अवतरित है। इसमें कवि ने कृष्ण की बाल छबि का वर्णन किया है। बालक कृष्ण को माता यशोदा सुला रही हैं। कृष्ण कभी आँखें खोल लेते हैं और कभी बन्द कर लेते हैं। कृष्ण के आँखें मूंदने पर त्रैलोक्य में क्या प्रतिक्रिया होती है, उसका वर्णन करते हुए कवि सूरदास कहते हैं—

व्याख्या—माता यशोदा अपने गोपाल को सुलाने का प्रयत्न कर रही हैं। श्रीष्ण के सोने के ढंग को देखकर आकाश लोक, पाताल लोक और पृथ्वी लोक—तीनों लोकों में कम्पन होने लगा। शिव और ब्रह्मा भी कृष्ण के इस भय को देखकर भ्रमित हो गए।

कृष्ण अपने काले, लाल और सफेद तीन रंगों से युक्त नेत्रों को, जो नींद के बोझ के कारण अलसाये हुए थे, कभी खोलते हैं, कभी बन्द करते हैं और कभी पलक झपकाते हैं। इस प्रकार झपकी लेते हुए कृष्ण का सौन्दर्य ऐसा लगता है मानो सूर्य के अस्त हो जाने पर दो कमल-केशों में बन्द भ्रमर उड़ न पा रहे हों। कृष्ण जब साँस लेते हैं तब उनका पेट उछलता है अथवा श्वास-क्रिया से वक्षस्थल आदि पर कम्पन होता है जो ऐसा लगता है मानो क्षीर सागर में लहरें उठ रही हों और वह अतिशय शोभा को प्राप्त हो रहा हो। इस समय उनके नाभि कमल पर ब्रह्मा आसीन नहीं हैं। वे जैसे उतर गये हैं। उतर जाने के कारण पछता रहे हैं कि इस समय यदि नाभि-कमल पर बैठे होते तो कृष्ण के उदर की शोभा के दर्शन कर सुखी होते। सोते समय श्रीकृष्ण ने अपने हाथ सिर के नीचे रख लिये हैं जो ऐसे सुशोभित होते हैं मानो महाशेषनाग विष्णु अवतार कृष्ण के ऊपर फन फैलाकर छाया कर रहे हों।

विशेष—(1) सोते हुए कृष्ण की बालछवि का चित्रण मनोवैज्ञानिक है।

(2) कृष्ण के विविध अंगों की शोभा का वर्णन चित्रात्मक शैली में हुआ है।

(3) **अलंकार**—भ्रान्तिमान, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, अनुप्रास।

(3) अजिर प्रभातहिं स्याम को, पलिका पौढ़ाए।
आप चली गृह-काज कौं, तहँ नन्द बुलाए।
निरखि हरषि मुख चूमि कै, मन्दिर पग धारी।
आतुर नँद आए तहाँ जहँ ब्रह्म मुरारी।
हँसे तात मुख हेरि कै, करि पग-चतुराई।
किलकि झटकि उलटे परे, देवन-मुनि-राई।
सो छबि नंद निहारि कै, तहँ महरि बुलाई।
निरखि चरित गोपाल के, सूरज बलि जाई ॥3॥

शब्दार्थ—अजिर—आँगन। पलिका—पलंग। पौढ़ाए—लिटाया; लिटाकर। गृहकाज—घर के कार्य। निरखि—देखकर। मन्दिर—भवन। आतुर—बेचैन। तात—पिता। हेरि—देखकर। किलकि—किलकारी भरते हुए। राई—राजा; स्वामी। निहारि—देखकर। चरित—चरित्र; कार्य। सूरज—सूरदास।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' से अवतरित है। यह पद श्रीकृष्ण की बाललीला से सम्बन्धित है। श्रीकृष्ण आँगन में सोये हुए हैं। यशोदा भी अपने गृहकार्य में लगी हुई हैं और नन्द भी श्रीकृष्ण के मुख का दर्शन कर आनन्द-मग्न हैं। इसी भाव को कवि ने यहाँ अभिव्यक्ति दी है। कवि का कथन है—

व्याख्या—माता यशोदा ने प्रभात के समय श्रीकृष्ण को पालने में लिटा दिया है। उन्होंने नन्दजी को वहीं बुला लिया है और स्वयं घर के कार्यों में संलग्न हो गयीं। यशोदा के कहने पर नन्दजी आये; उन्होंने कृष्ण के मुख के दर्शन किए और हृदय में अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया। तदनन्तर उन्होंने प्रेम के वशीभूत होकर श्रीकृष्ण के मुख को चूम लिया तब भवन के अन्दर प्रवेश किया। नन्दजी शीघ्र उस स्थान पर आये जहाँ मुरा राक्षस के साक्षात शत्रु श्रीकृष्ण सो रहे थे। देवों तथा मुनियों के स्वामी

श्रीकृष्ण पिता का मुख देखकर हँस पड़े और किलकारी मारकर पैरों की चतुरता दिखाते हुए, झटके से उलटे हो गये। श्रीकृष्ण के इस रूप और शोभा को देखकर नन्दजी ने ब्रजरानी यशोदा को वहीं बुला दिया। सूरदासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के इस प्रकार के बाल लीला के चरित्र को देखकर मुझे भी आनन्द मिल रहा है और मैं अपने आपको कृष्ण की इस बाल छवि पर न्यौछावर करता हूँ।

विशेष—(1) प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण की लीला का —सोने और उनसे माता-पिता के हर्षित होने—सुन्दर चित्रण कवि ने यहाँ किया है।

(2) **सूरज**—सूरदास के नाम की एक छाप जो अनेक पदों में प्रयुक्त है।

(3) भाषा, सरल, सरस और प्रवाहमयी है।

(4) **अलंकार**—अनुप्रास।

(4) हरषे नन्द टेरत महरि।
आइ सुत-मुख देखि आतुर, डारि दै दधि-डहरि।
मथति दधि जसुमति, मथानी धुनि रही घर-घहरि।
स्रवन सुनति न महर-बातें, जहँ-तहँ गइ चहरि।
यह सुनत तब मातु धाई, गिरे जाने झहरि।
हँसत नँद-मुख देखि धीरज तब कर्‌यौ ज्यौं ठहरि।
स्याम उलटे परे देखे, बढ़ी सोभा लहरि।
सूर प्रभु कर सेज टेकत, कबहुँ टेकत ढहरि।।4।।

शब्दार्थ—टेरत—पुकारना; बुलाना। महरि—यशोदा। आतुर—आकुल; बेचैन। दधि डहरि—दही बिलोने की हांडी। गइ चहरि—(नन्द की आवाज) फैल गई। धाई—दौड़ना। झहरि—झिझककर। धीरज—धैर्य। ढहरि—लुढ़कते हुए पलटा खाकर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के बाल-लीला वर्णन से सम्बन्धित है। इसमें श्रीकृष्ण के पालने में लेटने और उलटा होकर पड़े रहने की क्रियाओं का रोचक वर्णन कवि ने किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—श्रीकृष्ण के मुख के अतुलित सौन्दर्य का अवलोकन कर नन्दजी अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। वह सौन्दर्यजन्य आनन्द का उपभोग स्वयं न कर यशोदा भी को कराना चाहते हैं। इसीलिए यशोदाजी को पुकारते हैं—दही का मटका एक तरफ रख दो और जल्दी से आकर श्रीकृष्ण के मुख के सौन्दर्य का दर्शन करो। उस समय यशोदा जी मथानी से दही मथ रहीं थी जिससे घरघराहट की आवाज हो रही थी। इस लिए ब्रजरानी यशोदा नन्दजी के पुकारने की आवाज को नहीं सुन पाई थीं। बाद में मुदित होकर इधर-उधर गयीं तो उन्होंने पुकार सुनी, और यह समझकर दौड़ीं कि श्री कृष्ण झिझककर पालने से गिर पड़ा है। किन्तु नन्दजी के हँसी से प्रफुल्लित मुख का अवलोकन कर उन्हें धैर्य हुआ और वह रुक गयीं। पालने में श्रीकृष्ण को उलटा पड़ा हुआ देखकर उनके मन में सौन्दर्य की लहर बढ़ गयी। उन्हें और भी अधिक आनन्द की

प्राप्ति हुई। श्रीकृष्ण कभी तो अपने हाथों को पलंग पर टेकते हैं और कभी देहली पर टेकते हैं। श्रीकृष्ण के बाल-लीला के इस प्रकार से कार्य-व्यापार को देखकर सूरदासजी भी परम आनन्द को प्राप्त करते हैं; अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं।

विशेष—(1) श्रीकृष्ण के पालने में सोने और उलटा हो जाने के सौन्दर्य से उत्पन्न हर्ष का वर्णन कवि ने यहाँ किया है।

(2) भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, स्वाभावोक्ति।

(5) महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूमन लागी।
चिरजीवौ मेरौ लाड़िलौ, मैं भई सभागी।
एक पाख त्रय-मास कौ मेरौ भयौ कन्हाई।
पटकि राल उलटौ पर्‌यौ, मैं करौं बधाई।
नंद घरनि आनँद भरी, बोलीं ब्रजनारी।
यह सुख सुनि आईं सबै, सूरज बलिहारी॥5॥

शब्दार्थ—उलटाइ कै—उलटकर; पीठ के बल करके। सभागी—सौभाग्यवती। पाख—पक्ष; पन्द्रह दिन का समय।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के बाल-लीला प्रसंग से सम्बन्धित है। इसमें कवि ने श्रीकृष्ण के साढ़े तीन महीने का होने, बाल सुलभ क्रीड़ा करने और उससे प्राप्त नन्दरानी के आनन्द का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—यशोदाजी प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण को ऊपर उलटकर उनका मुख चूमने लगी, अधिक प्यार करने लगी और कहा—मेरा पुत्र चिरंजीव हो, युग-युग तक जीवित रहे। आज मैं सौभाग्यवती हो गयी हूँ। आज मेरा प्यारा कृष्ण साढ़े तीन महीने का हो गया है। ये अब जांघ पटककर उलटे पड़ते हैं। मैं बधाई देती हूँ। मैं इसका आनन्दोत्सव मनाऊँगी। नन्द की पत्नी यशोदा ने आनन्दित होकर यह बात ब्रज की अन्य नारियों से भी बतला दी। यशोदा की श्रीकृष्ण से सम्बन्धित बात को सुनकर सभी ब्रजांगनाएं सुख का अनुभव करके लगीं। सूरदास जी कहते हैं कि मैं भी श्रीकृष्ण की इस शोभा पर बलिहार जाता हूँ।

विशेष—(1) यहाँ कृष्ण का जांघ पटककर उलटा हो जाने की बाल-स्वाभाविक चेष्टा का कवि ने वर्णन किया है।

(2) श्री कृष्ण साढ़े तीन महीने के हो गये हैं—इसकी ओर भी कवि ने स्पष्ट संकेत किया है।

(3) वात्सल्य रस का सुन्दर चित्रण इस पद में हुआ है।

(4) भाषा सरल, सरस और प्रभावी है।

(5) **अलंकार**—अनुप्रास, स्वाभावोक्ति।

(6) जो सुख ब्रज मैं एक घरी।
सो सुख तीनि लोक मैं नाहीं धनि यह घोष-पुरी।

अष्टसिद्धि नवनिधि कर जोरे, द्वारैं रहित खरी।
सिव-सनकादि-सुकादि अगोचर, ते अवतरे हरी।
धन्य-धन्य बड़भागिनि जसुमति, निगमनि सही परी।
ऐसैं सूरदास के प्रभु कौं, लीन्हों अंक भरी ॥6॥

शब्दार्थ—एक घरी—प्रतिक्षण; एक क्षण। घोषपुरी—अहीरों की बस्ती। अष्टसिद्धि-नवनिधि—ऐश्वर्य-विलास की प्रतीक। खरी—खड़ी; उपस्थित। अगोचर—दिखायी न देने वाले। अवतरे—अवतरित होना; प्रकट होना। बड़भागिनि—बड़े भाग्यशाली। निगमनि—वेदों। अंक—गोद।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के बाल-लीला वर्णन से सम्बन्धित पदों से अवतरित है। इसमें श्रीकृष्ण के अवतरित होने और तज्जन्य सुख का वर्णन किया गया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—श्रीकृष्ण के ब्रज में अवतरित होने से ब्रज में जो आनन्द प्रतिक्षण सुलभ हो जाता है, वह तीनों लोकों में भी नहीं है। यह घोषपुरी—गोकुल नगरी धन्य है जो यह सुख प्राप्त कर रही है। यहाँ आठों सिद्धियाँ और नवों ऋद्धियाँ द्वार पर हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। जो प्रभु हरि शिव, सनकादि ऋषियों और शुकदेव आदि परमहंसों के लिए भी अगोचर हैं, उन्होंने इस ब्रजभूमि पर अवतरण किया है, अवतार धारण किया है। अत्यन्त भाग्यशालिनी यशोदा बार-बार धन्य हैं जोकि ऐसे सूर के प्रभु कृष्ण को गोद लिये हुए हैं। वेद इसके साक्षी हैं।

विशेष—(1) श्रीकृष्ण के अवतरण से ब्रज का महत्त्व बढ़ गया है—यह यहाँ कवि ने स्पष्ट किया है।

(2) यशोदा के भाग्य की भूरि-भूरि सराहना की गयी है।

(3) भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(4) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति।

(7) यह सुख सुनि हरषीं ब्रजनारी। देखन कौं धाईं बनवारी।
कोउ जुवती आई, कोउ आवति। कोउ उठि चलति, सुनत सुख पावति।
घर-घर होति अनन्द-बधाई। सूरदास प्रभु की बलि जाई ॥7॥

शब्दार्थ—हरषीं—प्रसन्न होना। धाईं—दौड़ीं। ब्रजनारी—ब्रजांगनाएँ। बनवारी—श्रीकृष्ण। जुवती—युवती। बलिजाई—न्यौछावर होना।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि महात्मा सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' से अवतरित है। श्रीकृष्ण ने गोकुल में नन्द-यशोदा के घर अवतार लिया है, यह समाचार चारों ओर फैल गया है। सभी युवतियाँ प्रसन्न हो कृष्ण के दर्शन करने और यशोदा को बधाई देने के लिए आती हैं। उसी समय का चित्रण कवि ने इन पंक्तियों में किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने गोकुल में नन्द-यशोदा के यहाँ अवतार धारण किया है—इस सुख के समाचार को सुनकर ब्रजांगनाएँ परम हर्ष का अनुभव करती हैं और परम उत्साहित होकर श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिए दौड़ी-दौड़ी नन्दजी की पौढ़ी आती हैं। कोई तो नारी कृष्ण का दर्शन करने और बधाई देने के लिए आ गयी है, कोई आ रही है। कोई उठकर घर से चल रही है और कोई इस आनन्ददायक समाचार को सुनकर सुखानुभव करती है। कृष्ण के अवतरण को लेकर घर-घर में आनन्द मनाया जा रहा है, उत्सवों का आयोजन किया जा रहा है, बधाइयाँ दी जा रही हैं। एक वाक्य में, सभी ब्रजवासी प्रसन्नचित्त दिखायी पड़ते हैं। सूरदास जी अपने प्रभु श्रीकृष्ण पर बलिहार जाते हैं।

विशेष—(1) यहाँ श्रीकृष्ण के गोकुल में अवतरण धारण करने से सम्बन्धित आनन्द का उल्लेख हुआ है।

(2) भाषा सरस और प्रभावपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति।

(4) अनुभावों का सुन्दर क्रियात्मक चित्रण है।

(8) जननी देखि छबि, बलि जाति।
जैसें निधनी धनहिं पाऐं, हरष दिन अरु राति।
बाल-लीला निरखि हरिषित, धन्य धनि ब्रजनारि।
निरखि जननी-बदन किलकत, त्रिदस-पति दै तारि।
धन्य नँद, धनि धन्य गोपी, धन्य ब्रज कौ बास।
धन्य धरनी-करन-पावन-जन्म सूरजदास ॥8॥

शब्दार्थ—छबि—सौन्दर्य। बलि जाति—न्यौछावर होना। निधनी—निर्धन। अरु—और। बदन—मुख। त्रिदस-पति—तीसकोटि देवताओं के स्वामी। दैतारि—ताली बजाकर। धरनी करन पावन जन्म—पृथ्वी को पावन करने वाला जन्म।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के बाल-लीला प्रसंग से अवतरित है। श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं को देखकर यशोदा, ब्रज-नारियाँ—सभी अपने को धन्य समझती हैं। इसका चित्रण करते हुए कवि कहता है—

व्याख्या—जब-जब भी माता यशोदा श्रीकृष्ण की सुन्दर छवि का अवलोकन करती हैं तब-तब वे अपने को श्रीकृष्ण पर न्यौछावर कर देती हैं। माता यशोदा वैसे ही आनन्दित होती हैं जैसे निर्धन स्त्री को धन प्राप्त हो जाने से वह रात-दिन आनन्दित होती रहती है। श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं को देखकर हर्षित, आनन्दित होने वाली ब्रजनारियाँ धन्य हैं। तीस करोड़ देवताओं के स्वामी श्रीकृष्ण माता यशोदा के मुख का अवलोकन कर बार-बार तालियाँ बजाते हैं। किलकारियाँ मारते हैं। पिया नन्दजी भी धन्य हैं। ये गोपिकाएँ तथा ब्रज के अन्य निवासी भी धन्य हैं। श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का अवलोकन कर माता यशोदा, पिता नन्द एवं सभी ब्रजवासी अपने जीवन को धन्य समझते हैं। सूरदास कहते हैं कि पृथ्वी को पवित्र करने वाला प्रभु का अवतार धन्य है।

विशेष—(1) यहाँ श्रीकृष्ण के मुख की शोभा को देखकर माता यशोदा का आनन्दित होना और उनकी बाल-सुलभ क्रीड़ाओं को देखकर ब्रजनारियों का हर्षित होना वर्णित है।

(2) भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(9) जसुमति भाग-सुहागिनी, हरि कौं सुत जानै।
मुख-मुख जोरि बत्यावई, सिसुताई ठानै।
मो निधनी कौ धन रहै, किलकत मन मोहन।
बलिहारी छवि पर भई, ऐसी विधि जोहन।
लटकति बेसरि जननि की, इकटक चख लावै।
फरकत बदन उठाइ कै, मनहीं मन भावै।
महरि मुदित हित उर भरै, यह कहि, मैं वारी।
नंद-सुवन के चरित पर, सूरज बलिहारी ॥9॥

शब्दार्थ—भाग-सुहागिनी—सौभाग्यशालिनी। सुत—पुत्र। बत्यावई—बातें करना। निधनी—निर्धन। जोहन—देखना; चितवन। चख—नेत्र। बदन—मुख। हित—प्रेम। नन्द सुवन—नन्द के पुत्र।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के बाल-लीला प्रसंग से सम्बन्धित है। इस अवतरण में कवि ने श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं का सुन्दर अंकन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—माता यशोदा अत्यन्त शौभाग्यशालिनी हैं जो श्रीकृष्ण को अपना पुत्र समझती हैं। वह श्रीकृष्ण के मुख-से-मुख जोड़कर बातें करती हैं। बालकृष्ण बाल-सुलभ चेष्टाएँ कर बैठते हैं। माता यशोदा कहती हैं कि मुझ कंगालिनी का धन यह मन मोहन किलकता रहे। श्रीकृष्ण की ऐसी मोहनी चितवन पर तथा उसके अनुपम सौन्दर्य पर मैं बलिहार जाती हूँ। माता की लटकती हुई नथुनी पर मोहन की एकटक दृष्टि लगी हुई है। श्रीकृष्ण पुलकित मुख उठाकर मन-ही-मन उसे चाहते हैं। यशोदा श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर कहती हैं—हे लाल ! मैं तुमपर न्यौछावर होती हूँ, ऐसा कहकर ब्रजरानी यशोदा हर्ष-युक्त होकर श्रीकृष्ण को अपनी छाती से लगा लेती हैं। सूरदासजी कहते हैं कि मैं नन्द जी के पुत्र श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं पर न्यौछावर होता हूँ।

विशेष—(1) श्रीकृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं का वर्णन हुआ है।

(2) भाषा सरस, सरल और प्रभावशाली है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, स्वभावोक्ति।

(10) गोद लिए हरि कौं नँदरानी, अस्तन पान करावति है।
बार-बार रोहनि कौं कहि-कहि, पलिका अजिर मँगावति है।
प्रात समय रबि-किरनि कोंवरी, सो कहि सुतहि बतावति है।
आउ धाम मेरे लाल कें आँगन, बाल-केलि कौं गावति है।

रुचिर सेज लै गइ मोहन कौं, भुजा उछंग सोवावति है।
सूरदास प्रभु सोए कन्हैया, हलरावति-मल्हरावति है ।।10।।

शब्दार्थ—हरि—श्रीकृष्ण। नन्दरानी—यशोदा। अस्तन पान—दूध पिलाना। पलिका—खटोला। अजिर—आंगन। किरनि—किरण। कौवरी—सुकुमार; कोमल। भुजा उछंग—बांह की गोद बनाकर। हलरावति-मल्हरावति है—हिलाती-दुलराती है और लोरी आदि गाती है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि महात्मा सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के बाल-लीला प्रसंग से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने माता यशोदा के क्रिया-कलापों और स्नेहपूर्ण कार्यों का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—श्रीकृष्ण को गोद में लेकर नन्दरानी यशोदा स्तन-पान करा रही हैं तथा खटोले को आंगन में लाने के लिए बार-बार रोहिणी को कह रही हैं। ये प्रातः-कालीन सूर्य की सुकुमार किरणें उगी हैं—ऐसा कहकर पुत्र श्रीकृष्ण को बतलाती हैं। हे सूर्य किरणो ! मेरे घर में मेरे लाल के आँगन में आओ। इस प्रकार माता यशोदा बाल-लीला का गान करती हैं। यशोदा जी सुन्दर शय्या पर श्रीकृष्ण को ले जाकर भुजा के सहारे गोद में सुलाती हैं। कवि सूरदास जी कहते हैं कि जब श्रीकृष्ण सो गये तब यशोदा जी उन्हें हिलाती-दुलराती हैं और लोरी आदि गाती हैं।

विशेष—(1) यहाँ कवि ने यशोदा जी द्वारा श्रीकृष्ण को स्तन-पान कराना तथा अन्य चेष्टाओं का चित्रण किया है।

(2) वात्सल्य रस की सुन्दर सजीव अभिव्यक्ति हुई है।
(4) भाषा सरस एवं प्रभावपूर्ण है। अभिधा शक्ति है।
(4) **अलंकार**—अनुप्रास, स्वाभावोक्ति, पुनरुक्ति।
(5) संगीतात्मकता ध्यातव्य है। असावरी राग है।

(11) नंद-घरनि आनँद भरी, सुत स्याम खिलावै।
कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे, कहि, विधिहिं मनावै।
कबहिं दँतुलि द्वै दूध की, देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल-मुख बोलिहैं, सुनिहौं उन बैननि।
चूमति कर-पग-अधर-भ्रू, लटकति लट चूमति।
कहा बरनि सूरज कहै, कहँ पावै सो मति ।।11।।

शब्दार्थ—नन्दघरनि—नन्दजी की पत्नी; यशोदा। सुत—पुत्र। विधिहि—ब्रह्मा। नैननि—नेत्रों से। बैननि—बचन। भ्रू—भौंहें। वरनि—वर्णन करना। सो—वह। मति—बुद्धि।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के बाल-लीला वर्णन सम्बन्धी प्रसंग से अवतरित है। यहाँ कवि ने माता यशोदा की भावनाओं की मनोरम झांकी प्रस्तुत की है जिसमें उन्होंने श्रीकृष्ण को लेकर अनेक प्रकार की

कामनाओं की पूर्ति के लिए ब्रह्मा जी की याचना की है। कवि का कथन है—

व्याख्या—यशोदा जी अत्यन्त हर्षित हैं और प्यारे श्रीकृष्ण को तरह-तरह खिला रही हैं और ब्रह्मा जी से याचना करती हैं कि मेरा लाल कृष्ण कब घुटनों के बल चलेगा, वे अपनी आँखों से कब इसकी दूध की दो दंतुलियों को देखेंगी। श्रीकृष्ण अपने कमल रूपी मुख से कब बोलने लगेंगे। कब शब्दों का उच्चारण करेंगे। कब वह श्रीकृष्ण के मधुर शब्दों को अपने कानों से सुनेंगी। माता यशोदा प्रेम में अत्यन्त विभोर होकर श्री कृष्ण के हाथ, पैर, अधर और भौंहों को चूमती हैं तथा उनकी लटकती हुई केशराशि को चूम लेती हैं। सूरदास जी कहते हैं कि मैं कहाँ से ऐसी बुद्धि पाऊँ जो नन्दरानी यशोदा और लाड़ले कृष्ण के वात्सल्य-भाव का चित्रण कर सकूँ। अर्थात् यशोदा और कृष्ण के इस वात्सल्य का अंकन करना मेरी बुद्धि द्वारा संभव नहीं है।

विशेष—(1) श्रीकृष्ण के प्रति यशोदा की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन यहाँ कवि ने किया है।

(2) वात्सल्य रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

(3) भाषा सरस, स्वाभाविक और प्रभावशाली है।

(4) **अलंकार**—अनुप्रास, रूपक।

(12) नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ौ किन होहि।
इहिं मुख मधुर बचन हँसिके धौं, जननि कहै कब मोहिं।
यह लालसा अधिक मेरे जिय जो जगदीस कराहिं।
मो देखत कान्हर इहिं आँगन, पग द्वै धरनि धराहिं।
खेलहिं हलधर संग रंग-रुचि, नैन निरखि सुख पाऊँ।
छिन-छिन छुधित जानि पय कारन, हँसि-हँसि निकट बुलाऊँ।
जाकौ सिव-बिरंचि-सनकादिक मुनिजन ध्यान न पाव।
सूरदास जसुमति ता सुत-हित, मन अभिलाष बढ़ाव ।।12।।

शब्दार्थ—नान्हरिया—छोटे। नन्हे—स्नेहार्थक। किन—क्यों नहीं। धौं—भला। कराहिं—करें; पूरी करें। पय कारन—दूध पिलाने के लिए। सुत-हित —पुत्र के लिए। अभिलाष—अभिलाषाएँ; इच्छाएँ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के बाल-लीला प्रसंग से अवतरित है। इस पद में कवि ने माता यशोदा की श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भावनाओं की सरस-सजीव अभिव्यक्ति की है। कवि का कथन है—

व्याख्या—माता यशोदा जी कहती हैं—मेरे नन्हे से बालगोपाल कृष्ण ! तू जल्दी से बड़ा क्यों नहीं हो जाता ? पता नहीं, कब तू मुझे अपने इस मुख से हँसकर मधुर वाणी में 'मैया' अथवा माता' कहकर पुकारेगा। मेरे मन को यही बड़ा चाव है, मेरी तो यही उत्कट अभिलाषा है और इसे भगवान् पूरा कर दें कि मेरे देखते-देखते मोहन, इस आँगन में, धरती पर अपने दोनों चरण रखने लगें। वे बलराम के साथ रुचि और उल्लास के साथ खेलें और मैं यह देख-देखकर सुखी होऊँ। क्षण-क्षण में भूखा समझकर दूध

पिलाने के लिए मैं हँस-हँसकर पास बुलाऊँगी। सूरदास जी कहते हैं कि शंकर, ब्रह्मा, सनकादिक ऋषि तथा मुनिगण ध्यान में भी जिसे धारण नहीं कर पाते, उसी पुत्र के लिए यशोदा मन में अनेक इच्छाएँ बढ़ाया करती हैं।

विशेष—(1) श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा की अभिलाषाएँ यहाँ व्यक्त हुई हैं।

(2) वात्सल्य रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।
(3) भाषा सरस, सरल और प्रवाहपूर्ण है।
(4) **अलंकार**—स्वाभावोक्ति, अनुप्रास, पुनरुक्ति।

मुरली वचन गोपियों के प्रति

(1) ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु ?
पूछहु जाइ स्याम सुन्दर कौं, जिहिं दुख जुर्‌यो सनेहु ॥
जन्मत ही तैं भई बिरत चित, तज्यौ गाउँ, गुन गेहु ।
एकहि पाउँ रही हौं ठाढ़ी, हिम-ग्रीषम-ऋतु मेहु ॥
तज्यौ मूल साखा-सुपत्र सब, सोच सुखानी देहु ।
अगिनि सुलाकत मुर्‌यौ न तन मन, बिकट बनावत बेहु ॥
बकतीं कहा बाँसुरी कहि-कहि, करि-करि तामस तेहु ।
सूर स्याम इहिं भाँति रिझै, किनि, तुमहुँ अधर रस लेहु ॥1॥

शब्दार्थ—उरहन—उपालम्भ; उलाहना। जिहिं दुख जुर्‌यौ सनेहु—जिनसे कठिनाई से प्रेम जुड़ा है। बिरतचित—विरवत चित्त। मेहु—मेघ; वर्षा। सुलाकत—सुलगाती है। करि-करि तामस तेहु—क्रोध करके। रिझै—प्रसन्न होकर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा वर्णित एवं रचित 'सूरसागर' से अवतरित है। इस पद में गोपियों ने मुरली के प्रति अपनी खीझ को व्यक्त किया है। गोपियों की मुरली के प्रति खीझ के प्रति मुरली उत्तर देती हुई कहती है—

व्याख्या—हे गोपियो! तुम मुझे किसलिए उलाहना दे रही हो? तुम मेरी तपस्या पर तो ध्यान दो और यदि मेरे कहने पर विश्वास नहीं है तो तुम स्वयं श्रीकृष्ण जी से पूछकर देख लो। मैंने घोर तपस्या की है तब जाकर कहीं आज मैंने यह स्थिति प्राप्त की है। जन्म लेते ही मैंने वैराग्य धारण कर लिया था और मैंने अपना घर एवं गाँव भी छोड़ दिया था। मैंने एक पैर पर खड़े होकर सदा तपस्या की और कभी भी ओले, वर्षा, धूप और सर्दी की चिन्ता नहीं की; इनके प्रबल आघातों से भी मैं कभी विचलित नहीं हुई। कृष्ण के साथ रहने के लिए मुझे अपने मूलजन्य स्थान को त्यागना पड़ा, शाखा और पत्तों से अलग होना पड़ा। मेरा शरीर सूखकर हरा-पीला हो गया। मुझे अग्नि से दागा गया, अनेक छिद्र भी मुझ पर किये गये। मैं इन सब कष्टों से तनिक भी घबराई नहीं; क्योंकि मुझे श्रीकृष्ण से स्नेह था और मैं सदा उनका सान्निध्य चाहती थी। तभी आज मुझे कृष्ण का सामीप्य प्राप्त है। फिर तुम्हें इस प्रकार की ईर्ष्या करना उचित

नहीं। तुम व्यर्थ ही मुझे बार-बार मेरा नाम लेकर पुकारती रहती हो। कृष्ण की प्राप्ति के लिए जितनी तपस्या मैंने की है वैसी ही तपस्या तुम भी करो। तुम साधना की आग में जलो तो कृष्ण तुम्हें स्वयं अपना लेंगे। फिर तुम भी कृष्ण के अधरों का रसपान कर सकती हो।

विशेष—(1) प्रकारान्तर से सूर मुक्ति के लिए साधना एवं कष्ट सहन आवश्यक मानते हैं। उसके लिए त्याग की भी आवश्यकता पड़ती है।

(3) एक स्वामी की भक्ति भी आवश्यक है।

(3) मुरली के माध्यम से सरल उपमानों के माध्यम से भक्त की अनन्यता का भी उद्घोष किया गया है।

(4) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति।

(2) ग्वारिनि मोहीं पर सतरानी।
जौ कुलीन अकुलीन भईं हम, तुम तौ बड़ी सयानी॥
नाना रूप बखान करति हौ, काहैं बृथा रिसानी।
तुमहिं कहौ कह दोष हमारौ? खोटी क्यौं पहिचानी?
जो स्रम मैं अपनैं तन कीन्हौ, सो सब कहौं बखानी।
सूरदास-प्रभु बन-भीतर तैं, तब अपनैं घर आनी॥2॥

शब्दार्थ—ग्वारिनि—ग्वालिनें। सतरानी—ऐंठ जाना; नाराज होना। कुलीन—ऊँची जाति की। अकुलीन—निम्न जाति की। कह—क्या। खोटी क्यों पहिचानी—मुझ खोटी को कृष्ण ने क्यों पहचाना। जो स्रम—जो श्रम—जो कष्ट मैंने कृष्ण का प्रेम पाने के लिए उठाया है। बन भीतर तैं—जंगल से। आनी—लाकर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' से अवतरित है। गोपियाँ मुरली के प्रति असूया का भाव रखकर उसे भला-बुरा कहती हैं। मुरली को गोपियों की यह बात अखरती है और वह उनके प्रति अपना विरोध व्यक्त करती है। प्रस्तुत पद में भी मुरली का गोपियों के प्रति विरोध-भाव व्यक्त हुआ है। कवि का कथन है—

व्याख्या—मुरली गोपियों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करती हुई कहती है—हे ग्वालिन! तुम मुझी पर नाराज हो गईं; मेरे पर ही अपनी ऐंठ निकालती हो। कहने का भाव तो यह है कि कृष्ण पर तो वश चलता नहीं तो मुझी पर नाराजगी व्यक्त करने लगीं। तुम अपने को बड़ी चतुर और बुद्धिमान समझती हो। तुम अपने को ऊँची जाति की समझती हो और मुझे निम्न जाति का बतलाती हो। तुम मुझपर व्यर्थ ही क्रोधित होकर मेरी अनेक प्रकार से बुराइयाँ करती हो, मुझमें दोष निकालती हो। तुम्हीं बताओ कि इसमें मेरा क्या दोष है? जब मुझमें कोई दुर्गुण ही नहीं है, तब ही तो श्रीकृष्ण ने पहचानकर मुझे अपनाया है अन्यथा वह मुझे क्यों अपनाते? जो कष्ट मैंने कृष्ण का प्रेम पाने के लिए उठाया है, शरीर को अनेक प्रकार से कष्ट दिए हैं तब कहीं श्रीकृष्ण को प्राप्त कर सकी हूँ, क्या उस सबका मैं वर्णन करूँ? अनेक प्रकार के कष्ट सहने और

कठोर तपस्या करने के उपरान्त ही तो प्रेम में सफल जानकर श्रीकृष्ण मुझे जंगल से यहाँ ले आये हैं। अब तुम्हीं सोचो इसमें मेरा क्या दोष है, यह तो मेरे गुणों और तपस्या का ही फल है, जो मैं आज अपने प्रिय को प्राप्त करने में सफल रही हूँ।

विशेष—(1) यहाँ मुरली ने गोपी के प्रति अपना विरोध-भाव प्रकट किया है।

(2) भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(3) जब सुनिहौ करतूति हमारी।
तब मन-मन तुमहीं पछितैहौ, बृथा दई हम याकों गारी ।।
तुम तप कियौ सुन्यौं मैं सोऊ, रिस पावहुगी और कहा री ।
मो समान तप तुम नहिं कीन्हौ, सुनहु करौ जनि सोर बृथा री ।।
मैं कह कहौं, सुनौगी तुमहीं, जगत-विदित यह बात हमारी ।
सूर स्याम आपुन ही कहिये सुनत कहा मुसुकात मुरारी ।।3।।

शब्दार्थ—करतूति—कठिन कार्य। बृथादई—बेकार में दी। गारी—गाली; अपशब्द। सोर—शोर; चीख-पुकार। कह—क्या। कहिए—कहा जाए। जगत-विदित—संसार में प्रसिद्ध।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'मुरली वचन गोपियों के प्रति' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ मुरली गोपियों का प्रतिरोध करती हुई अपनी स्थिति स्पष्ट करती है और कहती है कि वास्तविकता जानने के बाद तुम स्वयं पछतावा करोगी।

व्याख्या—मुरली गोपियों के प्रति अपनी भावना को व्यक्त करती हुई कहती है —है गोपियो ! जब तुम मेरे कठिन कार्यों और कठोर तप आदि के सम्बन्ध में सुनोगी तो मुझे निश्चय है कि तुम मन-ही-मन पछताओगी और अनुभव करोगी कि हमने व्यर्थ में ही मुरली को बुरा-भला कहा; उसे गालियाँ दीं, हमें ऐसा नहीं करना चाहिए था। इसमें कोई सन्देह नही है कि तुमने भी तप किया है; श्रीकृष्ण को पाने के लिए पति-पुत्र, लोक-लज्जा आदि को छोड़ा है—यह सब मैंने सुना है लेकिन मेरी तपस्या की कथा सुन कर तुम्हें क्रोध ही आयेगा और क्या आएगा ? भाव यह है कि तुमने जो तप किया है; वह इसी कोटि का है कि दूसरे का तप देखकर ईर्ष्या से जलने लगे। यह सत्य है कि श्री कृष्ण को पाने के लिए तुमने मेरे समान कठोर तपस्या नहीं की है, अतः तुम व्यर्थ ही चीख-पुकार मत करो। मैं अपनी कठोर तपस्या के सम्बन्ध में क्या कहूँ, इसके सम्बन्ध में तुम स्वयं ही सब कुछ सुन लोगी। मेरी तपस्या के सम्बन्ध में तो सारा संसार जानता है। मुरली कहती है कि गोपिकाओ ! तुम्हीं कहो कि तुम्हारी ओछी बातें सुनकर भला कृष्ण क्यों मुस्कराते हैं ? निश्चय ही उनका मुस्काना साभिप्राय है।

विशेष (1) यहाँ मुरली ने अपनी साधना को गोपियों से बढ़कर बतलाया है।

(2) भाषा सरल, सरस, प्रवाहपूर्ण है। अभिधा शब्द-शक्ति है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश।

(4) मो पर ग्वालि कहा रिसाति।
कहा गारी देति मोकौं कहा उघटति जाति।।
जौ बड़ी तुम आपुही कौ, तुमहि होहु कुलीन।
मैं बँसुरिया बाँस की जौ, तौ भई अकुलीन।।
पीर मेरी कौन जानै, छाँड़ि इक करतार।
सूर-प्रभु सँग देखि काहें, खिझति बारंबार।।4।।

शब्दार्थ—रिसाति—क्रोध करना। उघटति—उद्घाटित करना; बखान करना; निन्दा करना। कुलीन—ऊँची जाति की। अकुलीन—निम्न जाति की। पीर—वेदना; दर्द। करतार—स्वामी; प्रभु। संग—साथ; समीप। खिझति—खीझना; दुःखी होना।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'मुरली वचन गोपियों के प्रति' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस पद में मुरली अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए गोपियों के प्रति अपने आक्रोश और प्रतिशोध को व्यक्त करती है।

व्याख्या—मुरली गोपियों को सम्बोधित कर कहती है—'हे गोपियो! तुम व्यर्थ ही मुझपर क्रोधित क्यों होती हो? मेरे प्रति तुम्हारे क्रोध करने का कारण भी तो नहीं है। मुझे व्यर्थ में ही तुम क्यों गाली देती हो, मेरी जाति-पाँति को बखानती हो; मेरी निंदा क्यों करती हो! तुम अपने को बड़ी कहती हो, सभ्य कहती हो, कुलीन और ऊँची जाति की कहती हो—तुम निश्चय ही होगी, किन्तु मेरे से इसका क्या मतलब है। तुम्हारी दृष्टि में तो मैं बाँस से बनी हुई बाँसुरी हूँ और निम्न-जाति से सम्बन्ध रखती हूँ। ईश्वर अथवा श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मेरी आन्तरिक पीड़ा को कोई नहीं जानता है और न जानने का प्रयास ही करता है। जब तुम मुझे श्रीकृष्ण के समीप देखती हो तुम यह सहन नहीं कर पाती हो और इसी कारण बार-बार मेरे प्रति अपनी खीझ व्यक्त करती हो। किन्तु इसमें तो मेरा कोई दोष नहीं है। यह सब तो मेरे प्रेम की परिपक्वता को व्यक्त करते हैं। अतः तुम्हें मेरे प्रति क्रोध का भाव नहीं रखना चाहिए।

विशेष—(1) यहाँ बाँसुरी ने श्रीकृष्ण के प्रति अपने दृढ़ प्रेम की सशक्त अभिव्यक्ति की है।

(2) भाषा सरस और प्रभावी है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, वक्रोक्ति।

(5) मैं अपनै बल रहति स्याम संग, तुम काहैं दुख पावति री।
मो पर रिस पावति हौ पुनि पुनि, कछु काहूँहिं बतरावति री।।
तुमहुँ करौ सुख, मैं बरजति हौं, ऐसेहि सोर लगावति री।
कहा करौं मोहिं स्याम निवाजी, काहे न दूरी करावति री।।
बृथा बैर तुम करति निसादिव, आछौ जनम गँवावति री।
सूर सुनहु ब्रजनारि सयानी, मूरख ह्वै, समुझावति री।।5।।

शब्दार्थ—अपने बल—अपनी शक्ति और सामर्थ्य से। संग—साथ; समीप। पुनि-पुनि—बार-बार। बतरावति—बातें करती हो। बरजति—मना करना। सोर—शोर; कोलाहल। निवाजी—कृपा की है। आछौ—अच्छा; श्रेष्ठ। गंवावति—गँवाना, नष्ट करना। सयानी—चतुर। ह्वै—होकर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के 'मुरली वचन गोपियों के प्रति' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ मुरली गोपियों का प्रतिरोध करती हुई उनसे विरोध न करने का आग्रह करती है।

व्याख्या—मुरली गोपियों को सम्बोधित कर कहती है—हे गोपियो ! मैं अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर ही श्रीकृष्ण के समीप रहती हूँ; इससे तुम क्यों दुःखी होती हो। मुझपर बार-बार क्यों क्रोध प्रदर्शित करती हो। लेकिन तुम किसी को, दूसरे व्यक्तियों को, कुछ और-और बातें ही बतलाती हो। दूसरे शब्दों में, मुझपर बार-बार क्रोध करती हो लेकिन दूसरों के आगे अपना क्रोध छिपा जाती हो। तुम सुखी जीवन बिताओ, क्या ऐसा करने से मैं तुम्हें रोकती हूँ ? तुमतो व्यर्थ में ही शोर मचाती रहती हो; हाय ! हाय ! करती रहती हो। तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ जबकि श्रीकृष्ण मुझपर कृपा करते हैं; इसीलिए तो मैं सदा उनके साथ रहती हूँ और तुम मुझे उनसे दूर करना चाहती हो। बेकार में ही रात-दिन तुम मुझसे बैर रखती हो और यों ही अपने श्रेष्ठ जन्म को बेकार में गंवा रही हो। सूरदासजी कहते हैं कि मुरली गोपियों को चेतावती देती हुई कहती है—हे ब्रजनारियो, तुम बहुत ही चतुर हो और मैं मूर्ख होकर भी तुम्हें समझाती हूँ कि तुम मुझसे बैर रखना छोड़ दो।

विशेष—(1) यहाँ मुरली गोपियों से वैर-त्याग करने का आग्रह करती है।

(2) भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) अलंकार—अनुप्रास।

(6) सुनौ इक बात हो ब्रजनारि।
रिस कियैं पावति कहा हो, कहा दीन्है गारि॥
जाति उघटति, पाँति उघटति, लेति हौं सब मानि।
तुम कहति, मैं हूँ कहति सोइ, मोहि बन तैं आनि॥
कर्म कौ यह बहुत नाहीं, स्याम अधरनि धारि।
सूर-प्रभु जौ कृपा कीन्ही, कहा रही बिचारि॥6॥

शब्दार्थ—इक—एक। रिस—क्रोध। गारि—गाली; अपशब्द। जाति—जाति। पाँति—कुल। मानि—स्वीकार करना। मोहि—मुझे। आनि—लाना। अधरनि—होंठों पर। धारि—धारण करना; रखना।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'मुरली वचन गोपियों के प्रति' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस पद में मुरली गोपियों को बतलाती है कि मैंने जितनी कठोर तपस्या की है, उसके बदले में मात्र श्रीकृष्ण मुझे अपने अधरों पर रखते हैं जो काफी नहीं है। अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करती हुई

मुरली गोपियों को सम्बोधित कर कहती है—

व्याख्या—हे ब्रज की नारियो ! मेरी एक बात तुम ध्यान से सुनो। मेरे प्रति अपना क्रोध प्रदर्शित करके तुम्हें क्या लाभ मिलता है ? तुम मुझे व्यर्थ में ही गाली क्यों देती हो ? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? कभी मेरी जाति का बखान करती हो और मुझे नीची जाति वाली कहकर मेरा अपमान करती हो और कभी मेरे कुल का नाम बदनाम करती हो। इससे तुम्हें क्या मिलता है ? यदि मैं तुम्हारे इन सब दोषारोपण को स्वीकार कर भी लूँ तब भी तुम्हें इससे कौन-सा लाभ मिलेगा ? जो तुम कहती हो, प्रत्युत्तर में मैं भी वही कहती हूँ। श्रीकृष्ण स्वयं ही तो मुझे बन से लेकर अपने घर में लाये हैं और मुझे अपने समीप रखते हैं। मेरे कर्म को देखते हुए यह बहुत नहीं है—मैंने जिस प्रकार कष्ट सहे हैं उन्हें देखते हुए यदि कृष्ण ने मुझे अपने अधरों पर रख लिया है तो यह काफी नहीं है। मैंने जितनी कठोर तपस्या की है परिणाम तो उससे कहीं कम मिला है। फिर भी कृष्ण ने मुझपर इतनी कृपा की है और मुझे अंगीकार किया है। अतः तुम व्यर्थ ही क्यों सोच-विचार कर रही हो। तुम्हारे सोचने-विचारने से कुछ होने वाला नहीं है।

विशेष—(1) यहाँ मुरली ने गोपियों को बता दिया है कि वे उसका विरोध करना छोड़ दें।

(2) मुरली ने अपनी कठोर साधना और तप की ओर स्पष्ट संकेत किया है और बताया है कि कृष्ण का सान्निध्य मेरी साधना की तुलना में कम है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(7) रिझै लेहु तुमहुँ किन स्यामहिं।
काहे कौं बकवाद बढ़ावति, सतर होहि बिनु कामहिं॥
मैं अपने तप कौ फल भोगवति, तुमहुँ करि फल लीजौ।
तब धौं बीच बोलिहै कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ॥
अपनौ भाग नहीं काहू सों, आपु आपनें पास।
जो कछु कहौ सूर के प्रभु कौं, मो पर होति उदास॥7॥

शब्दार्थ—रिझै—प्रसन्न करना। बकवाद—व्यर्थ की बातें। सतर होहिं—व्यर्थ में क्रोध करना अथवा ऐंठना। भोगवती—भोगती हूँ। करि—मेरे जैसे कर्म करके। तबधौं—तब तक। उदास—अप्रसन्नता।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के मुरली वचन गोपियों के प्रति नामक प्रसंग से अवतरित है। गोपियों ने कृष्ण की वंशी की निन्दा की, उसके परिवार की निंदा की तो वंशी ने गोपियों से तपस्या करके उसी की भाँति फल भोगने की बात कही। मुरली गोपियों से कहती है—

व्याख्या—हे गोपियो ! तुम भी श्रीकृष्ण को क्यों नहीं रिझा लेतीं अर्थात् तुम अपनी साधना, तपस्या और एकनिष्ठता से श्रीकृष्ण को हमेशा के लिए पा क्यों नहीं लेती हो ? मुझसे ईर्ष्या करने से कोई लाभ नही है। मेरे साथ तुम व्यर्थ का वार्तालाप

क्यों बढ़ा रही हो ? इस प्रकार की अकड़ और क्रोध से कोई कार्य सधने वाला नहीं है। मैंने तुम्हारा कुछ नहीं लिया है। मैं तो अपनी तपस्या का फल भोग रही हूँ। तुम तपस्या करके अपनी तपस्या का फल पाओ और श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करो। और तब यदि तुम्हारे और श्रीकृष्ण के मध्य आए तो फिर तुम उससे कुछ भी नहीं कह सकती हो और उसे अपने मार्ग से अलग कर सकती हो। कोई किसी का भाग्य नहीं छीन सकता, सभी को अपने-अपने भाग्य के अनुसार फल प्राप्त होता है। सूरदास जी लिखते हैं कि जो कुछ भी तुम्हें कहना है वह सब कुछ श्रीकृष्ण से कहो, मुझपर क्रोधित होने से कोई लाभ नहीं है।

विशेष—(1) शुद्ध कथोपकथन शैली से नाटकीयता आ गई है।

(2) भाग्यबल पर बल है किन्तु आधुनिक युग में इसे कोई नहीं स्वीकारता।

(3) गोपियों की अनन्यता अभिव्यक्त है। क्योंकि यह इसी तथ्य का परिणाम है कि वे निर्जीव वस्तु से भी ईर्ष्या करने लगती हैं।

(8) मेरे दुख कौ ओर नहीं।
षट रितु सीत उष्न बरषा मैं ठाढ़े पाइ रही॥
कसकी नहीं नैकहूँ काटत, घामैं राखी डारि।
अगिनि-सुलाक देत नहिं मुरकी, बेह बनावत जारि॥
तुम जानति मोहि बाँस बँसुरिया, अगिनि छाप दै आई।
सूर स्याम ऐसें तुम लेहु न, खिझति कहा हौ माई॥8॥

शब्दार्थ—दुख कौ ओर—दुःख की सीमा। कसकी नहीं नैकहूँ काटत—काटे जाने पर तनिक भी कसमसाई-हिली नहीं। घामैं—धूप में। अगिनि सुलाक देत—अग्नि से सुराख करते समय। मुरकी—हठी; हिली। माई—सखी।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के मुरली वचन गोपियों के प्रति नामक प्रसंग से अवतरित है। इस अवतरण में मुरली ने अपनी कठोर साधना और तपस्या का स्पष्ट उल्लेख किया है और गोपियों से स्पष्ट कहा है कि वे उसके प्रति अपने ईर्ष्या और विरोध के भाव का परित्याग कर दें। मुरली गोपियों को सम्बोधित कर कहती है—

व्याख्या—मुरली गोपियों को सम्बोधित कर कहती है—हे गोपियो ! मेरे दुःख का कोई ओर-छोर नहीं है, कोई सीमा नहीं है। मैंने कितना कष्ट सहा है इसका अनुमान तुम सहज ही लगा सकती हो। सर्दी, गर्मी और बरसात सभी मौसम में मैं जंगल में एक पैर से ही खड़ी रही हूँ। मुझे काटा भी गया है किन्तु काटे जाने पर भी मैं तनिक भी नहीं कसमसाई; हिली नहीं और कष्टों को बड़े धैर्य के साथ झेला। इतना ही नहीं, मुझे काटकर गर्मी में सुखाने के लिए रखा गया। मुझमें अग्नि से सुराख भी किए गए किन्तु तब भी मैं हिली नहीं; धैर्यपूर्वक सब कुछ सहन किया। मुझे जलाकर बेह बनाया गया, मुझमें छेद किए गए और बाँसुरी का रूप दिया गया। और तुम अज्ञान के कारण मुझे केवल बाँस की बँसुरियाँ कहती हो; इस रूप तक प्राप्त होने में मैंने कितना कष्ट

उठाया है। मैं अपने पर अग्नि की छाप देकर आई हूँ—अग्नि में तपकर खरी प्रमाणित होकर आई हूँ। आगे बाँसुरी गोपियों को सम्बोधित कर कहती है कि तुम मुझे साधारण रूप में गिनो, यह सब तो—कृष्ण के प्रति अनुराग—मेरी कठोर साधना का सुफल है और इसे देखकर तुम व्यर्थ ही अपनी खीझ प्रकट करती हो।

विशेष—(1) यहाँ कवि ने बाँसुरी की आन्तरिक भावनाओं को व्यक्त कर उसके निर्माण के सम्बन्ध में भी प्रकारान्तर से विचार किया है।

(2) भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(9) स्रम करिहौ जब मेरी सी।
तब तुम अधर-सुधा-रस बिलसहु, मैं ह्वै रहिहौं चेरी सी।।
बिना कष्ट यह फल न पाइहौ, जानति हौ अवडेरी सी।
षट रितु सीत तपनि तन गारौ, बाँस बँसुरिया केरी सी।।
कहा मौन ह्वै ह्वै जु रही हौ, कहा करति अवसेरी सी।
सुनहु सूर मैं न्यारी ह्वै हौं, जब देखौं तुम मेरी सी।।9।।

शब्दार्थ—श्रम—परिश्रम। मेरी सी—मेरे समान। बिलसहु—विलास करो। चेरी-सी—गुलाम जैसी। अवडेरी-सी—दुखियारी के समान। तन गारौ—शरीर खपाया है।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्त कवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'मुरली वचन गोपियों के प्रति' नामक प्रसंग से अवतरित है। मुरली गोपियों को सावधान करती हुई कहती है कि मेरे समान ही कष्ट उठाकर तुम प्रिय कृष्ण का संग प्राप्त कर सकती हो। जब तुम ऐसा करोगी तब ही तुम्हें देखकर मैं शान्त होऊँगी।

व्याख्या—मुरली गोपियों को सम्बोधित कर रहती है—हे गोपियो! जब तुम लोग मेरे समान परिश्रम करोगी तब तुम कृष्ण के अधरों के रस का भोग करोगी, मैं दासी बनकर ही रहूँगी। बिना कष्ट उठाये तुम यह फल प्राप्त नहीं कर सकोगी। तुम मुझे दुखियारी के समान समझती हो तभी तो तुम मेरी निन्दा करती हो और मुझ पर क्रोध प्रकट करती हो। बाँस की बाँसुरी के समान छहों ऋतुओं में ठण्ड और गर्मी से अपने शरीर को गलाओ। अब कैसे मौन बनती जा रही हो! चिन्ता क्यों करती हो अथवा तुम मुझे तंग क्यों करती हो। सूरदास जी कहते हैं कि मुरली गोपियों से कहती है कि जब मैं अपने समान परिश्रम करते हुए तुम्हें देखूँगी तब मैं स्वयं शान्त हो जाऊँगी और अपने को अलग कर लूँगी।

विशेष—इस पद में मुरली के चरित्र और प्रेम की अनन्यता का प्रकाशन हुआ है।

(2) भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति।

उद्धव प्रत्यागमन

(1) ऊधौ जब ब्रज पहुँचे जाइ।
तबकी कथा कृपा करि कहियै, हम सुनिहैं मन लाइ॥
बाबा नंद, जसोदा मैया, मिले कौन हित आइ।
कबहूँ सुरति करत माखन की, किधौं रहे बिसराइ॥
गोप सखा दधि भात खात बन, अरु चाखते चखाइ।
गऊ बच्छ मुरली सुनि उमड़त, अब जु रहत किहिं भाइ॥
गोपिन गृह व्यवहार बिसारे, मुख सन्मुख सुख पाइ।
पलक ओट निमि पर अनखातीं, यह दुख कहाँ समाइ॥
एक सखी उनमैं जो राधा, लेति मनहिं जु चुराइ।
सूर स्याम यह बार बार कहि, मनहीं मन पछिताइ॥1॥

शब्दार्थ—मन लाइ—मन लगाकर। हित—प्रेमी। बिसराइ—भुलाना। दधि—दही। भात—चावल। बच्छ—बछड़ा। किहिं भाइ—किस भाव से।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के उद्धव प्रत्यागमन नामक प्रसंग से अवतरित है। उद्धव ब्रज आकर गोपियों को योग की साधना का उपदेश में असफल रहते हैं और उलटे श्रीकृष्ण के प्रति उनके प्रेम को देखकर उसमें सराबोर हो जाते हैं और मथुरा वापिस लौट आते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण से उनकी भेंट होती है और कृष्ण ब्रज के समाचार जानने के लिए आतुर होते हैं। उसी समय का यहाँ वर्णन हुआ है। कवि कथन है—

व्याख्या—उद्धव जब ब्रज जा पहुँचे तब कृष्ण ने उनसे कहा कि हे उद्धव ! जब तुम ब्रज में पहुँचे तब वहाँ की क्या स्थिति थी—कैसा वातावरण था, उस सबको तुम कथन करो—मैं उन सब बातों को मन से सुनूंगा। जब तुम ब्रज पहुँचे तब बाबा नन्द, माता यशोदा के अतिरिक्त और कौन-कौन से प्रेमी तुमसे आकर मिले और कितने स्नेह से मिले ? कभी माखन का स्मरण करते हैं अथवा मुझे बिल्कुल विस्मृत कर दिया है। जंगल में गोप परस्पर खिलाकर खाते हैं अथवा नहीं, क्या वह स्वयं दूसरे का ध्यान किये बिना ही दही, माखन और चावल खा जाते हैं। गाय और बछड़े मेरी मुरली की ध्वनि को सुनकर उमड़ पड़ते थे, बताओ, अब वह किस प्रकार से रहते हैं ? हे उद्धव ! बताओ कि जिन गोपियों ने मेरे वहाँ रहते प्रत्यक्ष सुख (पुत्र, पति आदि का) पाकर भी मेरे कारण अपना गृह-व्यवहार भुला दिया था तथा जो निमित मात्र के लिए मेरे आँखों से ओट हो जाने पर नाराज हो जाती थीं, अब मेरे मथुरा चले आने पर उनका यह दुःख कहाँ समाता हैं—वे किस प्रकार से रहती हैं। उन गोपियों में एक सखी राधा थी जो मेरा मन चुरा लेती थी, उनकी क्या दशा है ? सूरदास कहते हैं कि कृष्ण यह बार-बार कहकर मन-ही-मन पछताते हैं।

विशेष—(1) यहाँ श्रीकृष्ण को भी ब्रजवासियों के विरह में दुःखी दिखाया गया है, जो स्वाभाविक ही है।

(2) भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—स्मृति अथवा स्मरण, अनुप्रास, पुनरुक्ति।

(2) ब्रज के निकट जाइ फिरि आयौ।
गोपी नैन नीर सरिता तैं, पार न पहुँचन पायौ॥
तुम्हरी सीख सु नाव बैठि कै, चाहत पार गयौ।
ग्यान ध्यान व्रत नेम जोग कौ, सँग परिवार लयौ॥
इहि तट तैं चलि जात नैंकु उत, बिरह पवन झकझोरै।
सुरति बृच्छ सो मारि बाहुबल, टूक टूक करि तोरै॥
हौं हूँ बूड़ि चल्यौ वा गहिरैं, केतिक बुड़की खाईं।
ना जानौं वह जोग बापुरौ, कहँ धौं गयौ गुसाँईं॥
जानत हुतौ थाह वा जल कौ, औ तरिबे कौ धीर।
सूर कथा जु कहा कहौं उनकी, पर्‌यौ प्रेम की भीर॥2॥

शब्दार्थ—नैन—नेत्र। सरिता—नदी। सीख—शिक्षा; उपदेश। तट—किनारा नैंकु—थोड़ा-सा। सुरति—प्रेम; स्मृति। बूड़ि—डूबना। केतिक—कितनी ही। बुड़की—डुबकियाँ। बापुरो—बेचारा। धौं—पग नहीं। गुसाईं—गोस्वामी; राजा; मालिक। प्रेम की भीर—प्रेम की चपेट में।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के उद्धव प्रत्यागमन नामक प्रसंग से अवतरित है। उद्धव के ब्रज से लौटने पर श्रीकृष्ण वहाँ के समाचार जानने के उत्सुक हैं। यहाँ उद्धव उनकी उत्सुकता को शान्त करते हुए उन्हें ब्रज के समाचारों एवं अपनी स्थिति से अवगत कराते हैं। उद्धव का कथन है—

व्याख्या—हे कृष्ण! मैं ब्रज के निकट जाकर वापिस लौट आया। तुम्हारे वियोग में गोपियों के नेत्रों से जो अश्रु-सरिता प्रवाहित हो रही थी, उसे मैं पार न कर सका अर्थात् गोपियों के वियोग-व्यथा से द्रवित होकर मैं अपने ज्ञानोपदेश का पवित्र कार्य पूर्ण न कर सका। मैं तुम्हारे द्वारा दी गयी योगशिक्षा रूपी नाव पर बैठकर प्रेमरूप सरिता को पार करना चाहता था। उस समय ज्ञान, ध्यान, व्रत, नियम, योग का सम्पूर्ण परिवार मेरे साथ था। जब मैं यहाँ से मथुरा से गोकुल की ओर चला तो मार्ग में वियोग-रूपी वायु के थपेड़ों ने मुझे आगे नहीं बढ़ने दिया। दूसरे शब्दों में, ज्ञान, ध्यान, व्रत, नियम, योग आदि सभी को पार जाने के लिए अवलम्ब लिया किन्तु गोपियों के प्रेम के सम्मुख यह सब व्यर्थ रहा और तुम्हारी शिक्षारूपी नौका को गोपियों के विरहजन्य निश्वासों से झकझोरकर, स्मरण रूपी वृक्ष से टकराकर मेरे बाहुबल को चूर-चूर कर दिया। मैंने गोपियों की उस गहरी आँसुओं की धारा में कितनी ही डुबकियाँ लगायीं और पता नहीं मेरा योग-साधन कहाँ चला गया? मैं उस जल (आसुओं के) की थाह जानता था तभी तो उसे पार कर सका। उद्धवजी कहते हैं कि मैं उनकी कथा का क्या वर्णन करूँ, सत्यता तो यह है कि मैं भी गोपियों के प्रेम की चपेट में आ गया। भाव यह है कि गोपियों के आपके प्रति सच्चे प्रेम को देखकर मैं भी ज्ञान और योग के स्थान पर प्रेम को महत्त्व

देने लग गया है ।

विशेष—(1) यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों के सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति है ।

(2) उद्धव भी गोपियों के प्रेम में भीग गये हैं—इस तथ्य को ओर कवि ने स्पष्ट संकेत किया हूँ ।

(3) **अलंकार**—रूपक, अनुप्रास ।

(3) जब मैं इहाँ तैं जु गयौ ।
तब ब्रजराज सकल गोपी जन, आगैं होइ लयौ ॥
उतरे जाइ नंद बाबा के, सबहीं सोध लह्यौ ।
मेरी सौं मोसौं साँची कहि, मैया कहा कह्यौ ?
बारंबार कुसल पूँछी मोहिं लै लै तुम्हरौ नाम ।
ज्यौं जल तृषा बढ़ी चातक चित, कृष्न कृष्न बलराम ॥
सुंदर परम विचित्र मनोहर, यह मुरली दै घाली ।
लइ उठाइ सुख मानि सूर प्रभु, प्रीति आनि उर साली ॥3॥

शब्दार्थ—सकल—सभी । आगैं होई लयौ—आगे बढ़कर स्वागत किया । साध—खोज, खबर । साँची—सच्ची । तृषा—प्यास । घाली—डाल दी । प्रीति—प्रेम । आनि—लाकर । साली—सालना; गड़ाना ।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमर' नामक प्रसंग से अवतरित है । उद्धवजी ब्रज से लौटते हैं और कृष्ण से भेंट करते हैं । उस समय कृष्ण प्रेमविभोर होकर ब्रज की दशा आदि के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा व्यक्त करते हैं । इसी सम्बन्ध में उद्धव का कथन है—

व्याख्या—हे कृष्ण ! जब मैं यहाँ से ब्रज गया और मेरे पहुँचने का समाचार वहाँ के निवासियों को मिला तो ब्रजराज नन्द और सम्पूर्ण गोपी समाज ने आगे बढ़कर मेरा स्वागत किया । हम नन्द बाबा के घर जाकर उतरे और उन्होंने हमारी सभी बातों को समझा । इस पर श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं—हे उद्धव ! तुम्हें मेरी सौगन्ध है, तुम मुझे सच-सच कहो कि माता यशोदा ने क्या कहा । उद्धव जी उत्तर देते हुए कहते हैं कि माता यशोदा ने बार-बार तुम्हारा नाम लेकर मुझसे कुशल पूछा । जैसे पपीहे के मन में जल की तृष्णा होती है वैसे ही माता यशोदा कृष्ण-कृष्ण तथा बलराम रटती रहती है । उन्होंने चलते समय उपहार के रूप में वात्सल्य की प्रतीक स्वरूप परम सुन्दर तथा विचित्र मनोहर मुरली दी है । सूरदास कहते हैं कि कृष्ण ने सुख मानकर मुरली उठा ली । उनके मन में प्रेम की भावना चुभ गयी । अर्थात् उन्होंने भी हृदय में अत्यन्त दुःख माना ।

विशेष—(1) यहाँ श्रीकृष्ण और यशोदा दोनों को ही प्रेम में व्यथित दर्शाया गया है ।

(2) भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है । अभिधा शक्ति है ।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, स्वाभावोक्ति ।

(4) सुनियौ ब्रज की दसा गुसाईं।
रथ की धुजा पीत पट भूषन देखत ही उठि धाईं॥
जो तुम कही जोग की बातैं, सो हम सबै बताईं।
श्रवन मूँदि गुन कर्म तुम्हारे, प्रेम मगन मन गाईं॥
औरौ कछू सँदेस सखी इक, कहत दूरि लौं आई।
हुतौ कछू हमहूँ सौं नातौ निपट कहा बिसराई॥
सूरदास प्रभु बन बिनोद करि, जे तुम गाइ चराईं।
ते गाईं अब ग्वाल न घेरत, मानौ भईं पराई॥4॥

शब्दार्थ—धुजा—ध्वजा; पताका। पट—वस्त्र। जोग—योग साधना। श्रवन—कान। हुतो—था। निपट—पूरी तरह से। बिसराई—भुला देना। जे—जिन।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' काव्यांश से अवतरित है। ब्रज से लौटने पर उद्धवजी कृष्ण के पूछने पर वहाँ की दशा का वर्णन करते हैं। यह प्रसंग उसी समय का है।

व्याख्या—उद्धवजी श्रीकृष्ण को सम्बोधित कर कहते हैं—हे कृष्ण! ब्रज की दशा के सम्बन्ध में जो आपने जानने की जिज्ञासा व्यक्त की है, उसके सम्बन्ध में सुनिये। जैसे ही हमारा रथ वहाँ पहुँचा गोपियाँ रथ की ध्वजा तथा पीला वस्त्र और भूषण देखकर उठकर दौड़ पड़ीं। जो तुमने योग की बातें कही थीं उन सबको हमने उन्हें बतलाया और समझाया। उन्होंने अपने कान मूँदकर मेरे द्वारा योग का उपदेश दिये जाने पर उसे न सुनने के लिए तुम्हारे गुणों और लीला—कर्मों का प्रेम में मग्न होकर गान किया। एक सखी कुछ दूसरा ही संदेश कहते हुए दूर तक चली आयी और कहा कि कृष्ण का हमसे भी कुछ नाता था लेकिन हमें बिल्कुल ही कैसे भुला दिया। उद्धव आगे कहते हैं कि वन में विनोद करके तुमने जिन गायों को चराया था उन गायों को अब ग्वाल नहीं चराते मानो वे पराई हो गयी हैं।

विशेष—(1) यहाँ ब्रजवासियों एवं गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है।

(2) **अलंकार**—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

(5) ब्रज के बिरही लोग दुखारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बल तन कारे॥
नंद जसोदा मारग जोवति, निसिदिन साँझ, सकारे।
चहुँ-दिसि कान्ह-कान्ह कहि टेरत, अँसुवन बहत पनारे॥
गोपी, ग्वाल, गाइ, गो सुत सब, अतिहीं दीन बिचारे।
सूरदास प्रभु बिनु यौं देखियत, चंद बिना ज्यौं तारे॥5॥

शब्दार्थ—बिरही—वियोगी। दुखारे—दुःखी। ठगे से—किंकर्तव्यविमूढ़। जोवति—जोहना; देखना। सकारे—प्रातःकाल। टेरत—पुकारना। पनाले—नाले। हीन—कमजोर; दुर्बल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' शीर्षक सम्बन्धी पदों से अवतरित है। उद्धव ब्रज से मथुरा वापस चले गये। वे वहाँ पहुँच कर कृष्ण से ब्रजवासियों की दशा का चित्रण करते हुए कहते हैं—

व्याख्या—हे कृष्ण ! ब्रज के निवासियों की स्थिति तुम्हारे वियोग में अत्यन्त दयनीय हो रही है। उन्हें कुछ सूझता ही नहीं है। वे स्थान-स्थान पर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। वे अत्यन्य दुर्बल हो गये हैं, उनका रंग-रूप भी काला हो गया है। नन्द और यशोदा रात-दिन, सायं-प्रातः आजकल तुम्हारे आने की राह देखते रहते हैं। वे चारों ओर कृष्ण-कृष्ण पुकारते फिरते हैं। उनके नेत्रों से वियोग जल अजस्त्र रूप में बहता रहता है। गोपिकाएँ, ग्वाल-बालों, गायों, बछड़ों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी है। वे तुम्हारे बिना अनाथ से हो गये हैं। उद्धव कहते हैं कि हे कृष्ण ! तुम्हारे बिना सभी ब्रजवासी, ग्वाल, गोपिकाएँ, गायें और बछड़े उसी प्रकार दिखायी देते हैं जैसे चन्द्रमा के बिना आकाश में तारागण दिखायी देते हैं।

विशेष—(1) श्रीकृष्णविहीन ब्रज का अच्छा वर्णन सूर ने किया है।
(2) भाषा प्रसाद गुण युक्त एवं सरस है।
(3) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश, उदाहरण।

(6) हरि जू, सुनहु बचन सुजान।
बिरह व्याकुल छीन तन मन, हीन लोचन कान॥
यहै है संदेस ब्रज कौ नाथ सुनहु निदान।
मैं सबै ब्रज दीन देख्यौ, तन बिना ज्यौं प्रान॥
तुम बिना सोभा नहीं प्रभु, ज्यौं दिवस बिनु भान।
आस साँस उसास घट मैं, अवधि आसा मान॥
जगत जीवन, जगत-पालक, जगत-नाथ, कृपाल।
करि जतन कछु सूर के प्रभु, ज्यौं जियैं ब्रज बाल॥6॥

शब्दार्थ—सुजान—चतुर। हीन—दुर्बल। लोचन—नेत्र। भान—सूर्य। घट—हृदय। जतन—यत्न; प्रयत्न।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। उद्धव ब्रज से वापिस लौटने के पश्चात् वहाँ की दयनीय स्थिति का वर्णन कृष्ण से करते हैं। उद्धव का कथन है—

व्याख्या—हे ज्ञानी कृष्ण ! मेरा यह वचन सुनो। आपके वियोग में गोपिकाएँ व्याकुल हैं। उनके तन दुर्बल हैं और मन से वह दुःखी हैं। वे आँखों और कानों से हीन हैं—तुम्हारी छवि के अलावा न कुछ देखना चाहती हैं और न तुम्हारे शब्दों के अलावा कुछ सुनना चाहती हैं। यह है वहाँ की स्थिति और अन्त में यही वहाँ का संदेश है। मुझे तो सब दयनीय ही दिखायी पड़ रहे थे, लगता था, जैसे शरीर में प्राण ही न हों। तुम्हारे बिना सब-कुछ शोभा-विहीन लगता है ठीक वैसे ही जैसे सूर्य के अभाव में दिन छविहीन हो। तुम्हारे वापस आने की अवधि की आशा में उच्छ्वास रूपी साँसें गोपियों के शरीर

में आशा लगाये अटकी हैं कि कभी तो यह अवधि समाप्त होगी। अन्त में उद्धव कृष्ण से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—हे कृपालु, हे जगत् के स्वामी, हे जगत् का पालन करने वाले, हे जगत् को जीवन प्रदान करने वाले कृष्ण ! आप कुछ ऐसा उपाय करो जिससे ब्रजवासियों की जीवन रक्षा हो सके। दूसरे शब्दों में, हे कृष्ण ! यदि आप उन्हें दर्शन नहीं देंगे, उनकी सुधि नहीं लोगे तो यह निश्चय है कि ब्रजवासी-ब्रजांगनाएँ अपने प्राणों का तुम्हारे वियोग में त्याग कर देंगी।

विशेष—(1) उद्धव ने यहाँ ब्रज की दीन-हीन स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है और कृष्ण से प्रार्थना की है कि वह उनकी रक्षा करें—उन्हें दर्शन दें।

(2) भाषा प्रसाद गुण पूर्ण और प्रभावशाली है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, उदाहरण।

(7) बिनती एक सुनौ श्री स्याम।
चलन न देतिं, चल्यौ नहिं भावत, चलत कह्यौ आवन षट याम ॥
तुम सर्वज्ञ सकल घट व्यापक, जीवन-पद, जन के बिस्राम।
संतत रहत कहत ढीठौ दै, स्याम सदा सेवक सुख धाम ॥
वह रस-रीति प्रीति गोपिन की लिए रहतिं लीला, गुन, नाम।
सूरदास प्रभु सब सुखदाता, तेऊ तौ नियरे नँद ग्राम ॥7॥

शब्दार्थ—भावत—अच्छा लगना। षट्याम—छः प्रहर। सर्वज्ञ—सब-कुछ जानने वाले। कहत ढीठौ दै—धृष्ठता करके कहता हूँ। नियरे—समीप।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस पद में कवि ने बतलाया है कि कृष्ण के वियोग में केवल नन्द ग्राम के निवासी ही दुःखी नहीं हैं अपितु सम्पूर्ण ब्रजप्रदेश भी आपके वियोग की अग्नि की लपटों से झुलसा हुआ है।

व्याख्या—उद्धवजी श्रीकृष्ण से कहते हैं—हे श्रीकृष्ण ! मेरी आपसे एक विनम्र प्रार्थना है, उसे आप ध्यान से सुनें। ब्रजांगनाएँ मुझे मथुरा वापस नहीं आने देती थीं, वापस आना मुझे भी अच्छा नहीं लगता था, चलते समय मैंने उनसे छह प्रहर में वापिस आने को कहा है कि मैं कृष्ण को लिवाकर यहाँ लाऊँगा। हे कृष्ण ! तुम तो सब-कुछ जानते हो, प्रत्येक हृदय में तुम्हारा निवास है, तुम जीवन प्रदान करने वाले हो, प्रत्येक जन को आश्वस्त करने और सुख प्रदान करने वाले हो। मैं भी सदैव तुम्हारे समीप ही रहता हूँ, इसी कारण मैं धृष्ठतापूर्वक कहता हूँ कि आप सुख के पुंज है। तुम्हारे वियोग में गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हैं। गोपियाँ तुम्हारे से कितना प्रेम करती हैं, यह तुम भली-भाँति जानते हो। उनके प्रेम की रीति भी निराली है, उसमें एकनिष्ठता है और वे सदा तुम्हारे गुणों और नाम का जाप ही करती रहती हैं। हे प्रभु ! आप तो सबको सुख प्रदान करने वाले हो, उन गोपियों को वियोग की व्यथा से मुक्ति प्रदान करें और साथ ही हे कृष्ण ! यह न समझो कि केवल नन्दगाँव के निवासी ही तुम्हारे वियोग में दुःखी हैं। वे सभी जो ब्रज के निवासी हैं, उन्हें भी नन्दगाँव की विरहाग्नि का आभास है।

विशेष—(1) यहाँ नन्दग्राम के वासियों को नहीं, सम्पूर्ण, ब्रज प्रदेश को श्री कृष्ण की वियोगाग्नि में झुलसा हुआ दिखलाया है।

(2) भाषा प्रसाद गुणयुक्त एवं प्रवाहपूर्ण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(8) सुनहु स्याम वै सब ब्रज बनिता, बिरह तुम्हारैं भई बावरी।
नाहीं बात और कहि आवति, छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी॥
कबहुँ कहति हरि माखन खायौ, कौन बसै या कठिन गाँव री।
कबहुँ कहति हरि ऊखल बाँधे, घर-घर ते लै चलौ दाँवरी॥
कबहुँ कहति ब्रजनाथ बन गए, जोवत मग भई दृष्टि झाँवरी।
कबहुँ कहति वा मुरली महियाँ, लै लै बोलत हमरौ नावँ री॥
कबहुँ कहति ब्रजनाथ साथ तैं, चन्द उयौ है इहै ठाँव री।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, अब वह मूरति भई साँवरी॥8॥

शब्दार्थ—बनिता—स्त्रियाँ। बावरी—पागल। रावरी—आपकी। दाँवरी—दाम; रस्सी। जोवत—देखना। मग—मार्ग। झाँवरी—धुँधली। मुरली महियाँ—मुरली के मध्य। साँवरी—काली।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने विरहिणी गोपिकाओं के उन्मत्त प्रलाप का वर्णन किया है।

व्याख्या—उद्धव श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे कृष्ण! मेरी बात ध्यान से सुनो। तुम्हारे वियोग में ब्रज की समस्त गोपिकाएँ पागल हो गयी हैं। तुम्हारे अतिरिक्त उनके मुख से और कोई बात नहीं निकलती है, आपकी कथा छोड़कर उन्हें कोई और बात नहीं सूझती है। कभी कहती हैं कि कृष्ण माखन खा गये, अब इस कठिन गाँव में कौन बसे। कृष्ण की दधि-माखन आदि लीलाओं के कारण यहाँ रहना कठिन है। कभी कहती हैं कि कृष्ण ऊखल में बाँधे गये थे, घर-घर से रस्सी लेकर चलो। शायद श्री कृष्ण ऊखल में बँधने के कारण ही यहाँ से चले गये हैं, न रस्सी होगी और न वह बँधेंगे। कभी कहती हैं कि कृष्ण बन गये हैं, रास्ता जोहते दृष्टि झुलस गयी है। कभी कहती हैं श्रीकृष्ण मुरली बजाते समय उस मुरली में हमारा नाम ले-लेकर पुकारा करते थे। कभी वे गोपिकाएँ कहती हैं कि कृष्ण के साथ होने से चन्द्रमा इस स्थान पर उदित हुआ है—कृष्ण के मुख की शोभा का प्रकाश हुआ है। सूरदासजी कहते हैं कि गोपिकाएँ कहती हैं—हे कृष्ण! तुम्हारे दर्शन के बिना अब वह राधा साँवली मूर्ति जैसी हो गयी है। दूसरे शब्दों में, राधा तुम्हारे वियोग में अत्यन्त व्यथित है।

विशेष—(1) यहाँ कृष्ण के वियोग में व्यथित गोपिकाओं की स्थिति का वर्णन उद्धव के माध्यम से कवि ने किया है।

(2) गोपियों के उन्मत्त प्रलाप का वर्णन यहाँ हुआ है।

(3) भाषा सरस, सरल और प्रवाहपूर्ण है।

(4) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति, विनोक्ति।

(9) हरि जू आए सो भली कीन्ही
मो देखत कहि उठी राधिका, अंक तिमिर कौं दीन्ही ।।
तन अति कंप बिरह अति व्याकुल, उर धुकधुकि अति कीन्ही ।
चलत चरन गहि रही गई गिरि, स्वेद सलिल भइ भीनी ।।
छुटी न भुज, टूटी बलयावलि, फटी कंचुकी झीनी ।
मनौ प्रेम की परनि परेवा, याही तैं पढ़ि लीनी ।।
अवलोकत इहिं भाँति रमापति मानौ अहि मनि छीनी ।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं, भई अयान मतिहीनी ।।9।।

शब्दार्थ—भली— अच्छा। तिमिर—अन्धकार । चलत—मेरे वापस चलते समय। स्वेदजल—पसीने की बूंदें। बलयावलि—कंगन अथवा चूड़ियों का समूह। प्रेम की परनि—प्रेम का ढंग । परेवा—कबूतर, पक्षी। मनि—मणि। अयान—अज्ञान।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस पद में कवि ने राधा की विक्षिप्तावस्था का मार्मिक एवं अनुभूतिपूर्ण वर्णन किया है—

व्याख्या—उद्धवजी कृष्ण को सम्बोधित कर कहते हैं—हे कृष्ण ! राधा आपके वियोग में विक्षिप्त हो गयी है। इसीलिए मुझे तुम्हारे जैसे सांवले शरीर वाला होने के कारण कृष्ण समझकर बोल उठी—'हे कृष्ण ! तुम आये, यह अच्छा किया।' मुझे देखते ही राधा यह कह उठी और अन्धकार को आलिंगन कर लिया। अन्धकार को काला देख-कर कृष्ण समझकर आलिंगन कर लिया। वह उद्धव और कृष्ण में कोई भेद नहीं कर पाती है। विरह में अतिव्याकुल रहने के कारण शरीर काँपता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। जब मैं गोकुल से मथुरा को चलने लगा तो मेरे पैरों को पकड़कर वह चरणों से लिपट गयी। अत्यधिक आवेश के कारण उनके शरीर से पसीना छूट गया और उस पसीने के जल से सारा शरीर भीग गया। मैंने भुजा हटाने का प्रयास किया—भुजा हटा कर अलग करने का प्रयास तो मेरा असफल रहा उलटे चूड़ियों का समूह और मौल गया, (टूट गया)। उनकी कंचुकी भी झीनी होकर फटगयी है। उनका प्रेम तुम्हारे प्रति कबूतर जैसा है जिसमें एकनिष्ठता और दृढ़ता के साथ-साथ गहनता भी है। लगता है राधाजी ने प्रेम की शिक्षा इसी कबूतर से ग्रहण की है और प्रेम में विभोर होकर वह ऐसे देखती है मानो सर्प से मणि छीन ली गयी हो। हे प्रभु ! मैं उस राधा की विक्षिप्तावस्था का वर्णन कहाँ तक करूँ, मेरी तो बुद्धि भी कुँठित हो गयी है, मुझे तो कुछ समझ ही नहीं आता है।

विशेष—(1) राधा की विक्षिप्तावस्था का मार्मिक वर्णन हुआ है।

(2) सात्विक अनुभावों का चित्रण सुन्दर बन पड़ा है।

(3) वियोगशृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(4) भाषा प्रसाद गुणोपेत एवं सरस है।

(5) **अलंकार**—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

(10) तुम्हारी भावती कह्यौ।
यह कहियौ नँद नंदन आगैं, अति दुख दुसह सह्यौ।।
लेति उसाँस सोच निसि दिन के, नैकु न रूप रह्यौ।
बिगलित केस बदन छवि ऐसी, जनु ससि राहु गह्यौ।।
माखन काढ़ि कूबरी लीन्हौ ब्रज मैं रह्यौ मह्यौ।
सूर स्याम रति जाम प्रेम पय, बहुरौ जम्यो कह्यौ।।10।।

शब्दार्थ—भावती—प्रेमिका। निसि-दिन—रात-दिन। नैकु—थोड़ा-सा। बिगलित—बिखरे हुए। गह्यो—पकड़ लेना, ग्रहण लगना। कूबरी—कुब्जा दासी। मह्यो—छाछ।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास द्वारा रचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। उद्धव ब्रज से वापिस मथुरा लौट आये हैं और वहाँ के समाचारों से श्रीकृष्ण को अवगत कराते हैं। कृष्ण की प्रेमिका एक गोपिका ने भी उद्धव के द्वारा एक संदेश श्रीकृष्ण को प्रेषित किया है। यहाँ उद्धव उसी संदेश को श्रीकृष्ण को देते हैं।

व्याख्या—उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं—हे कृष्ण! तुम्हारी प्रेमिका ने भी तुम्हारे लिये एक संदेश प्रेषित किया है। उसने कहा है कि प्यारे कृष्ण से कहना कि वह उनके वियोग में असह्य दुःखों को सहन कर रही है। आपकी चिन्ता में ही रात-दिन घुलती रहती है, दीर्घ निश्वासें लेती है और अब तो उसके शरीर की कान्ति भी फीकी पड़ गई है, उसमें पहले जैसा रूप नहीं रह गया है। उसकी केशराशि भी बिगड़ गई है, बाल हर समय बिखरे रहते हैं जिन्होंने मुख के सौंदर्य को भी दबा दिया है। बालों से ढका हुआ उसका मुख ऐसे लगता है जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो। इतना ही नहीं, तुम्हारी प्रेमिका ने यह भी संदेश दिया है कि कृष्ण से कहना कि माखन (कृष्ण) तो कूबरी ने निकाल लिया है, ब्रज में केवल छाछ (मह्यौ) बाकी रह गया है। कृष्ण की रति से उत्पन्न प्रेमरूपी दूध जो पहले जमा था अब फिर जम गया है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि कूबरी ने कृष्ण को प्राप्त कर लिया है फिर भी हमें उससे कोई शिकायत नहीं है। हम कृष्ण को पहले के ही तरह प्रेम करते हैं।

विशेष—(1) यहाँ गोपियों की वियोग-वेदना और कुब्जा के प्रति असूया भाव व्यक्त हुआ है जिसमें दैन्य की प्रधानता है।

(2) भाषा माधुर्य गुणोपेत है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास और उत्प्रेक्षा।

(11) सुनहु स्याम यह बात और कोउ क्यौं समुझाइ कहै।
दुहुँ दिसि कौ अति बिरह बिरहिनी, कैसें कै जु सहै।।
जब राधा तबहीं मुख माधौ-माधौ रटत रहै।
जब माधो ह्वै जात सकल तन, राधा बिरह दहै।।

उभै अग्र दव दारु कीट ज्यौं, सीतलताहिं चहै ।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसैहुँ सुख न लहै ।।11।।

शब्दार्थ—दुहूँ दिसि—दोनों ओर का। सहै—सहन करना। उभै—दोनों। लहै—प्राप्त करना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण भक्तकवि सूरदास विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस पद में कवि ने कृष्ण के वियोग में राधा की दयनीय स्थिति का चित्रण किया है।

व्याख्या—उद्धव जी श्रीकृष्ण से कहते हैं—हे कृष्ण ! तुम्हारे प्रेम की बातें वह राधा किसी और से कैसे समझाकर कहे। वह विरहिणी राधा दोनों ओर के दारुण विरह को कैसे सहन करे। दोनों ओर का विरह इस प्रकार है कि जब राधा स्वयं को राधा समझती है तब मुख से माधव रटती है और जब स्वयं को माधव समझती है तब उसका सारा शरीर राधा के विरह में जलता है। इस प्रकार वह उस काष्ठ कीट के समान शीतलता चाहती है जो जिस लकड़ी में निवास करता है उसके दोनों किनारों पर आग लगी है। वह बचकर जाए तो किधर ? यही स्थिति विरह में राधा की भी है। वह रात-दिन आकुल-व्याकुल रहती है; उसे किसी प्रकार से भी सुख नहीं मिल पा रहा है।

विशेष—(1) यहाँ राधा की विरह-व्यथा का सजीव चित्रण है।
(2) भाषा माधुर्य गुणयुक्त एवं प्रवाहपूर्ण है।
(3) **अलंकार**—अनुप्रास, उदाहरण, पुनरुक्ति।

(12) चित दै सुनौ स्याम प्रवीन ।
हरि तुम्हारैं बिरह राधा, मैं जु देखी छीन ।।
तज्यौ तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन ।
कंकना कर रहत नाहीं, टाड़ भुज गहि लीन ।।
जब सँदेसौ कहन सुंदरि, गवन मो तन कीन ।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बल हीन ।।
कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन ।
नैन जल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन ।।
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं, परम साहस कीन ।
सूर हरि के दरस कारन, रही आसा लीन ।।12।।

शब्दार्थ—चित दै—ध्यान देकर; एकाग्र होकर। प्रवीन—चतुर। छीन—क्षीण; दुर्बल। तमोल—पान खाना। मलीन—मैले। टाड़—आभूषण विशेष। कहन—कहने के लिए। सुंदरि—सुन्दरी; राधा। मोतन—मेरी ओर। छुद्रावलि—करधनी; तगड़ी। परिहस मीन—दुःख में भीगा हुआ। भट—वीर; साहसी।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ उद्धव जी ने कृष्ण से राधा की वियोग-जनित दयनीय अवस्था का कथन किया है।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण को सम्बोधित कर कहते हैं—हे चतुर स्याम ! मेरी बात को जरा ध्यान से सुनो। जब मैं ब्रज में पहुँचा और राधा जी के दर्शन किए तो वह मुझे अत्यन्त कृशकाय दिखाई दी। यह सब तुम्हारे वियोग के कारण ही तो है। इतना ही नहीं, राधा ने तुम्हारे विरह में तेल लगाना, पान खाना और आभूषण पहनना छोड़ दिया है और उसके अंग के वस्त्र मैले हो गए हैं। उसकी कलाइयाँ इतनी पतली हो गई हैं कि कंगन उनमें नहीं रुकते। वे राड़ के समान भुजाओं में आ जाते हैं। जब उस सुन्दरी राधा ने आपको संदेश देने के लिए मेरी ओर गमन किया तो उनकी करधनी उनके पैरों में उलझ गई जिसके फलस्वरूप वह नीचे गिर गई। उनमें शारीरिक शक्ति भी तो नहीं रह गई है। उनके गले से संदेश के शब्द नहीं निकल पा रहे थे और हृदय भी दुःख में भीगा हुआ था। वह दोनों नेत्रों में जल भरकर रोने लगी अथवा उनके नेत्र अश्रुपूरित हो गए। उनकी स्थिति को देखकर ऐसा लगता था जैसे मुसीबतों ने उन्हें घेर रखा हो। वह वीर और साहसी के समान बड़ा साहस करके फिर पृथ्वी पर से उठीं। सूरदास भी कहते हैं कि उद्धव कहते हैं—हे कृष्ण ! आपके दर्शनों की आशा के कारण ही अबतक वह जीवन धारण किए हुए हैं।

विशेष—(1) कृष्ण विरह राधा की दयनीय दशा का मार्मिक अंकन हुआ है।

(2) आंगिक और सात्विक भावों का सुन्दर चित्रण है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(13) फिर ब्रज बसौ नंदकुमार।
हरि तिहारे बिरह राधा, भई तन जरि छार॥
बिनु अभूषन मैं जु देखी, परी है बिकरार।
एकई रट रटत भामिनि, पीव पीव पुकार॥
सजल लोचन चुअत उनके, बहति जमुना धार।
बिरह अगिनि प्रचंड उनकैं, जरे हाथ लुहार॥
दूसरी गति और नाहीं, रटति बारंबार।
सूर प्रभु कौ नाम उनकैं, लकुट अंध अधार॥13॥

शब्दार्थ—छार—राख। बिकरार—विकराल। लोचन—नेत्र। जरे—जलना। लकुट—लकड़ी; लाठी। अंध—अंधा। आधार—आश्रय।

प्रसंग—प्रस्तुत पद भक्तकवि सूरदास द्वारा विरचित 'सूरसागर' के 'उद्धव प्रत्यागमन' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस पद में उद्धव जी ब्रज से लौटकर आने के पश्चात् वहाँ की दयनीय स्थिति आदि का वर्णन करने के अनन्तर कृष्ण से आग्रह करते हैं कि वह ब्रज में जाकर फिर से बस जाएँ जिससे नन्द-यशोदा, राधा, गोपिकाएँ और अन्य ब्रजवासी सुखी जीवन व्यतीत कर सकें।

व्याख्या—उद्धव श्री कृष्ण से कहते हैं—हे नन्दकुमार कृष्ण ! ब्रज में फिर से बसो। कृष्ण, तुम्हारे विरह में राधा जलकर राख हो गई है। मैंने उन्हें बिना आभूषण के देखा है, वह व्याकुल पड़ी है। और उस स्त्री को एक ही रट लगी रहती है। और वह हर

समय-पीव-पीव पुकारती रहती है। उसके नेत्र हर समय सजल रहते हैं और उनसे निरन्तर अश्रु प्रवाहित होते रहते हैं। प्रवाहित होते हुए अश्रु ऐसे जान पड़ते हैं जैसे यमुना का जल प्रवाहित हो रहा हो। उनके हाथ लपटों से जल गए हैं क्योंकि विरह की प्रचण्ड अग्नि में वह झुलस रही हैं अथवा विरह की प्रचण्ड अग्नि लोहार के हाथ पड़ी लौह सामग्री की तरह जलती है। उसकी और कोई दूसरी गति नहीं है। वह बार-बार कृष्ण का नाम रटती रहती है। सूरदास कहते हैं कि गोपियों ने कहा है कि कृष्ण स्वामी हैं और उनकी लकुटी अन्धों का आधार है। अर्थात् हम कृष्ण के प्रेम में अन्धी हैं और वही एकमात्र हमारे आश्रय हैं।

विशेष—(1) यहाँ राधा की वियोग-जनित अवस्था का मार्मिक चित्रण है।

(2) भाषा माधुर्य गुणोपेत है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास, पुनरुक्ति।

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास भक्तिकाल की रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु अधिकांश विद्वान् उनका आविर्भाव श्रावण शुक्ल सप्तमी, सवंत 1589 स्वीकार करते हैं। इनका जन्म उत्तरप्रदेश के बांदा जिला के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि तुलसी 'गण्ड' नामक अशुभ नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे जिससे उनके माता-पिता ने उन्हें बाल्यावस्था में ही त्याग दिया था। फलस्वरूप वे दरदर भटकते रहे —दाने-दाने के लिए ललचाते रहे। बाल्यावस्था में उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े। उदरपूर्ति के लिए भिक्षाटन करना पड़ा। बाद में काशी में जाकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उनके गुरु स्वामी रामानन्द थे। साथ ही उनके एक दूसरे गुरु नरहरिदास के होने का भी प्रमाण मिलता है। उनका विवाह रत्नावली नामक ब्राह्मण-कन्या से हुआ था। वे पत्नी में अत्यन्त आसक्त थे। कहा जाता है कि एक बार वे बाजार गए थे, इसी बीच उनकी पत्नी अपने पिता के साथ पीहर चली गई। घर आने पर जब उन्हें इस बात की जानकारी हुई तो वे भादों की उमड़ती यमुना को मुर्दे पर चढ़कर पार करके ससुराल गये और वहाँ लटकते हुए साँप को रस्सी समझकर उसे पकड़कर रत्नावली के पास पहुँचे। वहाँ रत्नावली ने तुलसी को धिक्कारते हुए कहा—

अस्थिचर्म मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
तैसी जो रघुनाथ में, होति न तो भवभीति।।

पत्नी की इस फटकार ने पत्नी-आसक्त विषयी तुलसी को महान् रामभक्त एवं महाकवि बना दिया। उनका जीवन ही बदल गया। वे कभी चित्रकूट, कभी अयोध्या

तो कभी काशी रहने लगे। उनका अधिकांश जीवन काशी में ही बीता। उनका अन्तिम समय बाहु-पीड़ा के कारण कष्टमय हो गया था। उनकी मृत्यु श्रावण कृष्ण तीज शनि, संवत 1680 को गंगातट पर हुई।

गोस्वामी तुलसीदास के नाम से सम्बन्धित कुल 37 रचनाएँ मिलती हैं किन्तु उनमें से अभी तक केवल 12 रचनाएँ ही प्रमाणित सिद्ध हो सकी हैं। प्रामाणिक रचनाओं के नाम ये हैं—रामचरितमानस, विनयपत्रिका, श्रीकृष्णगीतावली, गीतावली, कविता-वली, रामलला नहछू, वैराग्य-सांदीपिनी, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली।

महाकवि तुलसी के काव्य का वर्ण्य-विषय अत्यन्त विस्तृत है, व्यापक है। फलतः उसमें अनेक भावों और सभी रसों का सुन्दर विनियोजन देखने को मिलता है। मानव-जीवन की विविध अनुभूतियों, मनोवृत्तियों और मानव-मन का जैसा सूक्ष्म और व्यापक वर्णन तुलसी ने किया है, वैसा अन्य कोई कवि नहीं कर सका। उनका साहित्य स्वान्तः सुखाय है। परन्तु लोकोपकार की भावना से भी पूर्णतः अनुप्राणित है। अपने इष्टदेव के प्रति विनय-निवेदन में, उनके चरित्र-गायन में तुलसी के काव्य की भावगत गरिमा व्यक्त हुई है। उनके काव्य में सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

शृंगार रस—देखि-देखि रघुवीर तन डर मनाव धरि धरि।
भरे विलोचन प्रेमजल पुलकावली शरीर॥

वीर रस—जौं हौं अब अनुसासन पावौं।
तो चन्द्रमहिं निचोरि चैल-ज्यौं, आनि सुधा सिर नावौं॥

भयानक रस—चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कल मले।

करुण रस—जो जनतेउ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउ नहिं ओहू॥

अद्भुतरस—जस जस सुरसा बदन बढ़ावा।
तासु दुगुन कपि रूप दिखावा॥

शान्त रस—राम नाम मणि दीप धरि जीह देहरी द्वार।
तुलसी बाहर भीतरौ जो चाहै उजियार॥

वीभत्स—ओझरी की झोरी काँधे, आँतन की सेली बाँधे,
मूढ़ के कमंडल खपर किए खोरि कै।

रौद्र रस—जौ सत संकर करहि सहाई। तो मारौ रन राम दुहाई॥

हास्य—विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महाबिनु नारी दुखारे॥

इस प्रकार तुलसी के काव्य में नव-रसों की सुष्ठु योजना हुई है। तुलसी के काव्य में विविध हाव और अनुभावों का चित्रण भी बड़े सजीव एवं प्रभावोत्पादक रूप में हुआ है। कलात्मक सर्जना और महाकाव्य की दृष्टि से 'रामचरितमानस', संगीता-त्मकता की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' और मुक्तक काव्य की दृष्टि से उनकी 'कवितावली' और 'गीतावली' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

तुलसी ने रामचरितमानस में सर, सरिता, पर्वत, वन, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि के अत्यन्त हृदय-स्पर्शी एवं मनोहर वर्णन किए हैं, जिनमें प्रकृति अनेक रूपों को लेकर प्रकट होती है। कामद गिरिपर्वत, पंचवटी-पम्पा सरोवर वर्णन एवं किष्किधाकाण्ड में शरद ऋतु वर्णन तथा लंका काण्ड का चन्द्र वर्णन अत्यधिक प्रभावशाली है। नवीन एवं अनेक उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं से युक्त तुलसी का वर्णन ऋतु वर्णन विश्व-साहित्य में अमर है। बाह्य प्रकृति के अतिरिक्त तुलसी के काव्य में मानव-जीवन की अन्तःप्रकृति का भी अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक वर्णन मिलता है।

महान् कवि युगस्रष्टा और युगद्रष्टा दोनों ही हुआ करते हैं। तुलसी साधारण प्रज्ञा के कलाकार नहीं थे। ऐसा महान् सन्त और साहित्यकार किसी देश में हजारों वर्ष बाद उत्पन्न हुआ करता है। भारतीय इतिहास में वाल्मीकि और व्यास के बाद इतनी मेधा का कलाकार यदि कोई हुआ तो तुलसी ही है। उन्होंने अपने समय के समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक सभी परिस्थितियों का विस्तृत चित्रण किया है। 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में वर्णित कलियुग का चित्रण तत्कालीन समाज का चित्रण तो है ही, साथ ही आजके समाज का यथार्थरूप भी प्रस्तुत करने में पूर्ण समर्थ है। वस्तुतः 'रामचरितमानस' में रावण की राक्षसी सभ्यता का वर्णन प्रकारान्तर से तुलसीयुगीन मुसलमान सभ्यता का चित्रण है और रावण के अत्याचारों के उल्लेख के माध्यम से हिन्दुओं पर किए जाने वाले मुसलमानों के अत्याचारों का उल्लेख है।

तुलसी ने अपने समय में प्रचलित दोनों ही साहित्यिक भाषाओं—ब्रज और अवधी का साधिकार प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त संस्कृत एवं लोक-भाषा के भी वे प्रकाण्ड पण्डित, ज्ञानी एवं प्रयोगकर्ता हैं। उन्होंने विनयपत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली और दोहावली में ब्रजभाषा और 'रामचरितमानस' में अवधी, 'रामललानहछू' में अवधी के लोक-भाषा रूप का प्रयोग किया है। वस्तुतः तुलसी के काव्य में ब्रजभाषा की मधुरता और लालित्य, संस्कृत की कोमलकांत पदावली एवं अवधी की सजीवता एवं प्रभविष्णुता अपने पूर्णरूप में मिलती है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में श्री वियोगी हरि का निम्न कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है—"भाषा के ऊपर गोस्वामी जी का पूर्ण अधिकार था। वे भाषा के पीछे-पीछे नहीं चलते थे, वरन भाषा उनका अनुकरण करती थी।" तुलसी का शब्द-भण्डार अत्यंत व्यापक है। उसमें संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि के तत्सम, अर्द्ध-तत्सम तथा देशज और तद्भव शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। लोकोक्ति और मुहावरों के प्रयोग से उनकी कविता में सजीवता आ गई है। अलंकार योजना की दृष्टि से तुलसी का साहित्य अत्यन्त वैभवशाली है। अकेले 'रामचरितमानस' में अलंकार शास्त्रियों द्वारा अबतक बताये गए सभी अलंकारों का प्रयोग मिलता है। अलंकार-प्रयोग की दृष्टि से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुलसी ने अलंकारों को बलात् ठूंसा नहीं है, सहज रुप से प्रयुक्त वे कंचन में जटित मणियों की भाँति और भी सौन्दर्य-विधायक बन गये हैं। उपमा उनका प्रिय अलंकार है। तुलसी की उपमाएँ मौलिक और विश्व साहित्य में अनूठी हैं। इसके अतिरिक्त रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक

आदि अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग भी उनकी कविता में मिलता है।

तुलसीदास ने अपने काव्य में प्रचलित शैलियों का सुन्दर प्रयोग किया है। उनके समय में निम्नलिखित छन्द-शैलियाँ प्रचलित थीं—

(1) वीर गाथा काव्यों की कवित्त-छप्पय पद्धति—इस पद्धति में कवितावली की रचना की गई है।

(2) विद्यापति और सूर की गीति-शैली—विनयपत्रिका, गीतावली और श्री कृष्ण गीतावली की रचना इसी पद्धति में हुई है।

(3) कबीर आदि नीति कवियों की शैली—दोहावली की रचना इसी शैली में हुई है।

(4) जायसी आदि कवियों की दोहा-चौपाई शैली—इस शैली में रामचरित-मानस की रचना हुई है।

(5) लोक गीतात्मक शैली—जानकी मंगल, पार्वती मंगल और रामलला नहछू में इसी शैली के दर्शन होते हैं।

विनम्रतावश 'कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं, लिखि कागद कोरे' की उद्घोषणा करने वाले तुलसी का काव्य भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त समुन्नत है। उनकी अनुभूति जितनी गहरी और विशद है, अभिव्यक्ति उतनी ही स्पष्ट और आकर्षक। यही कारण है कि लगभग चार-सौ वर्षों बाद आज भी तुलसी का काव्य जनप्रिय है। शिक्षित और अशिक्षित, गृहस्थी एवं वैरागी, ज्ञानी और विज्ञानी, दार्शनिक और कवि—सभी समान रूप से उनके काव्य से प्रभावित हैं, परिचित हैं और अभिभूत हैं।

रामचरितमानस : लंका काण्ड
अंगद-दौत्य

(1) इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई॥
कहहु बेगि का करिअ उपाई। जामवंत कह पद सिरु नाई॥
सुन सर्वग्य सकल उर बासी। बुधि बल तेज धर्म गुन रासी॥
मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालिकुमारा॥
नीक मंत्र सबके मन माना। अंगद सन कह कृपानिधाना॥
बालितनय बुधि बल गुन धामा। लंका जाहु तात मम कामा॥
बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥
प्रभु अग्या धरि सीस चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुन सागर ईस राम कृपा जा पर करहु॥1॥ (क)
स्वयंसिद्ध सब काज नाथ मोहि आदरु दियउ।
अस बिचारि जुबराज तन पुलकित हरषि हियउ॥1॥ (ख)

शब्दार्थ—मत—परामर्श। सचिव—मन्त्री। बेगि—शीघ्र। उरबासी—हृदय में निवास करने वाले। मन्त्र—परामर्श। पठाइए—भेजिए। बालिकुमारा—अंगद।

नीक—अच्छा; लाभकारी। सन—से। मम कामा—मेरे काम से। काजु—कार्य। अग्या—आज्ञा। पुलकित—प्रसन्न होना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंकाकाण्ड के अंगद-दौत्य प्रसंग से अवतरित है। समुद्र-संतरण के पश्चात् रावण पर विजय हेतु युद्ध के उपायों पर विचार करने के लिए राम ने अपने मन्त्रियों से परामर्श किया। निश्चय हुआ कि आक्रमण से पूर्व अंगद को दूत के रूप में रावण को समझाने के लिए भेजा जाए। इसी प्रसंग में कवि का कथन है—

व्याख्या—यहाँ, जहाँ राम और उनकी सेना डेरा डाले हुए थी, प्रातःकाल रामचन्द्रजी जागे और सुग्रीव, विभीषण, हनुमान, जाम्बवन्त आदि मन्त्रियों को बुलाकर परामर्श किया और कहा अब आगे क्या किया जाए? राम का कथन सुनकर चरणों में मस्तक नवाकर जाम्बवन्त जी बोले—हे सर्वज्ञ! हे समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में निवास करने वाले! हे बुद्धि, बल, तेज, धर्म और गुणों के राशि! मेरी बात सुनिए। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सलाह देता हूँ। बालि-पुत्र अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजिए। जाम्बवन्त की बात अच्छी थी, सबको पसन्द आयी। तब कृपासागर रामचन्द्रजी अंगद से बोले—हे बुद्धि, बल और गुणों के धाम बालि-पुत्र! हे सौम्य! तुम मेरे काम के लिए लंका जाओ। तुम्हें बहुत क्या समझाकर कहूँ, तुम परम चतुर हो, यह मैं जानता हूँ। शत्रु रावण से वही बात-चीत करना जिससे हमारा काम बने और उसका कल्याण भी हो।

प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर, चरणों में प्रणाम करके अंगद उठे और श्रीरामचन्द्र से बोले—हे ईश रामचन्द्रजी! आप जिस पर कृपा करें वही गुणों का समुद्र और समर्थ हो जाता है। नाथ के सब कार्य स्वयंसिद्ध, अपने आप ही किए हुए हैं, स्वामी ने तो मुझे आदर दिया है—ऐसा विचार कर युवराज अंगद का शरीर रोमांचित हो गया और वे हृदय में हर्षित हुए।

विशेष—(1) यहाँ कवि ने अंगद को 'बुद्धि बल गुनधाम' कहा है और एक दूत में इन दोनों बातों का होना आवश्यक है।

(2) इस प्रसंग पर 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव है।

(3) अनुप्रास अलंकार है।

(2) बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिरु नाई॥
प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका॥
पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो होइ गै भेटा॥
बातहिं बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई॥
तेहिं अंगद कहुँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भवाँई॥
निसिचर निकर देखि भट भारी। जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी॥
एक एक सन मरमु न कहहीं। समुझि तासु बध चुप करि रहहीं॥
भयउ कोलाहल नगर मझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी॥

अब धौं कहा करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा ॥
बिनु पूछें मगु देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई ॥
गयउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम पद कंज।
सिंह ठवनि इत उत चितव, धीर वीर बल पुंज ॥2॥

शब्दार्थ—बाँकुरा—बाँका; कुशल; चतुर। बंका—पराक्रमी; बलशाली। पैंठना—प्रवेश करना। भेंट—मुलाकात। करष—ताव; लड़ाई का जोश। भँवाई—घुमाना; चक्कर लगाना। निकर—समूह। चले—भागे। मरमु—मर्म; रहस्य। मझारी—मैं; मध्य। अब धौं—अब भला। दरबार—द्वारा। ठवनि—ढंग।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के अंगद-दौत्य प्रसंग से अवतरित है। यहाँ अंगद श्रीराम से आज्ञा लेकर लंका आ पहुँचते हैं। उसी समय का वर्णन इन पंक्तियों में हुआ है। कवि का कथन है—

व्याख्या—श्रीराम के चरणों की वंदना कर और हृदय में प्रभुता को धरकर अंगद सबको मस्तक नवाकर चले। रण में बांका, बलशाली बालि-पुत्र प्रभु का प्रताप हृदय में रखकर स्वाभाविक निडर है। अंगद के नगर में प्रवेश करते ही रावण के बेटे से भेंट हो गयी जो वहाँ खेल रहा था। बातों-ही-बातों में कर्ष बढ़ गया—दोनों में कलह बढ़ने से जोश आ गया; क्योंकि दोनों ही अतुलित बली और उस पर भी तरुणावस्था के जवान थे। रावण के पुत्र ने अंगद पर लात उठायी, अंगद ने वही पैर पकड़कर उसे घुमाकर पृथ्वी पर पटककर मार डाला। निशिचर-समूह जो साथ थे, बलशाली अंगद को देखकर जहाँ-तहाँ चल दिये; वे डर के मारे पुकार भी नहीं कर सकते। एक-दूसरे से मर्म नहीं कहते, उसका बध मन में समझकर चुप साधकर रह गये। अंगद के भय से राक्षसों को भागता देख नगर में शोर और खलबली मच गयी कि वह वानर फिर आया है जिसने लंका जलायी थी। अत्यन्त भयभीत होकर सब विचारते हैं कि न जाने अब विधाता क्या करेगा? वह बिना पूछे ही अंगद को रावण की सभा का मार्ग दिखा देते हैं। जिस ओर अंगदजी देखने लगते हैं वही सूख जाता है।

तब अंगद श्रीराम-चरण-कमलों का स्मरण करके सभा-भवन के द्वार पर गये। धीर बलराशि वीर खड़े होकर इधर-उधर सिंह के ढंग पर देखने लगा।

विशेष—(1) यहाँ अंगद के लंका पहुँचने और वहाँ पर खलबली होने का वर्णन कवि ने किया है।

(2) 'सिंह ठवनि' कहकर कवि ने अंगद के पराक्रम की ओर संकेत किया है।

(3) अनुप्रास, पुनरुक्ति और रूपक अलंकार हैं।

(3) तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा ॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा ॥
आयसु पाइ दूत बहु धाए। कपि कुंजरहि बोलि लै आए ॥
अंगद दीख दसानन बैसें। सहित प्रान कज्जलगिरि जैसें ॥

भुजा विटप सिर सृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना ॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरि कंदरा खोह अनुमाना ॥
गयउ सभाँ मन नेकु न मुरा। बालितनय अतिबल बाँकुरा ॥
उठे सभासद कपि कहुँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेषी ॥
जथा मत्त गज जूथ महुँ, पंचानन चलि जाइ।
राम प्रताप सुमिरि मन, बैठ सभाँ सिरु नाइ ॥ 3 ॥

शब्दार्थ—पठावा—भेजा गया। आनहु बोलि—बुलाकर लाओ। नेंकु न मुरा—तनिक भी नहीं झुका। पंचानन—सिंह। सभाँ—सभा।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के अंगद-दौत्य प्रसंग से अवतरित है। अंगदजी लंका पहुँच जाते हैं और दूत भेजकर रावण को अपने आने का समाचार देते हैं। यहाँ इसी अवसर का चित्रण है। कवि का कथन है—

व्याख्या—अंगदजी ने तुरन्त एक निशिचर भेजकर अपने आगमन का समाचार रावण पर प्रकट किया। समाचार सुनते ही दसशीश वाला रावण दूत के निरादरार्थ बहुत हँसकर बोला कि उसे बुला लाओ, कहाँ का बन्दर है? रावण की आज्ञा पाकर बहुत से दूत दौड़े और वानरश्रेष्ठ अंगद को बुला लाये। दरबार में अंगद ने रावण को ऐसे बैठे हुए देखा जैसे कोई काजल का पर्वत प्राणों सहित बैठा हो। उसकी भुजाएँ, वक्ष और सिर शिखर के समान हैं। शरीर की रोमावली मानो बहुत-सी लताएँ हैं। मुख, नाक, नेत्र और कान पर्वत की कन्दराएँ और खोह से लगते हैं। अत्यन्त बांका बालि-पुत्र रावण की सभा में गया। उसका मन रावण का प्रताप देखकर जरा भी शंकित न हुआ। अंगद को देखकर सभी सभासद् खड़े हो गये। यह देख रावण के हृदय में बड़ा क्रोध हुआ।

जैसे मतवाले हाथियों के झुण्ड में सिंह चला जाता है वैसे ही अंगद हृदय में श्री राम के प्रताप का स्मरण कर सभा में सिर नवा कर बैठ गये।

विशेष—(1) यहाँ रावण के बाह्यस्वरूप का सुन्दर चित्रांकन हुआ है।

(2) अंगद की निर्भयता यहाँ वर्णित है।

(3) अनुप्रास, उदाहरण अलंकार हैं।

(4) कह दसकंठ कवन तैं बन्दर। मैं रघुबीर दूत दसकंधर ॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई ॥
उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव विरंचि पूजेहु बहु भाँती ॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा ॥
नृप अभिमान मोह बस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा ॥
अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा ॥
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन सहित संग निज नारी ॥
सादर जनकसुता करि आगें। एहि विधि चलहु सकल भय त्यागें ॥
प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि ॥ 4 ॥

शब्दार्थ—कह—कहता है। कवन—कौन। रही मिताई—मित्रता थी। पुलस्त्य—इस नाम के ऋषि जिनका नाती रावण था। हरि ग्रानहु—हरण करके ले ग्राया। छमिहिं—क्षमा करेंगे। करि—करके। प्रनतपाल—शरणागत का पालन करने वाले। ग्रारतगिरा—ग्रार्त्त वाणी; दीन वचन।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के ग्रंगद-दौत्य प्रसंग से ग्रवतरित है। ग्रंगद जी लंका पहुँचकर रावण की सभा में विराजमान हैं। यहाँ रावण ग्रौर ग्रंगद दोनों में जो वार्तालाप होता है, उसी का वर्णन हुग्रा है। कवि का कथन है—

व्याख्या—दशग्रीव रावण ग्रंगद से बोला—ग्ररे बन्दर! तू कौन है? ग्रंगद ने उत्तर दिया—हे दसकन्धर! मैं रघुवीर का दूत हूँ। मेरे पिता की तुझसे मित्रता थी, इसीसे हे भाई, मैं तेरी भलाई के लिए ग्राया हूँ। तुम्हारा कुल उत्तम है। पुलस्त्य ऋषि के तुम नाती हो। तुमने शिवजी ग्रौर ब्रह्मा जी की बहुत प्रकार से पूजा की ग्रौर उनको प्रसन्न किया है। उनसे बहुत प्रकार के वर प्राप्त किए ग्रौर सब कार्य किया। सब लोक-पालों ग्रौर सब राजाग्रों को तुमने जीता है। ग्रौर ग्रब तुम राज्यमद से किवां मोहवश जगन्माता श्री सीताजी को हर लाये। ग्रब तुम मेरा कल्याणकारी कथन सुनो। प्रभु राम तुम्हारे सब ग्रपराध क्षमा कर देंगे। दाँतों तले तिनका दबाग्रो, कण्ठ में कुठारी बाँधो, कुटुम्बियों सहित ग्रपनी स्त्रियों के साथ श्री जानकी जी को ग्रादरपूर्वक ग्रागे कर इस प्रकार सब भय छोड़कर चलो।

'हे शरणागत का पालन करने वाले! हे रघुवंश शिरोमणि! ग्रब मेरी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए'—इस प्रकार चलकर कहने से तुम्हारी ग्रार्त्त वाणी सुनते ही प्रभु तुमको ग्रवश्य ही निर्भय करेंगे।

विशेष—(1) यहाँ ग्रंगद जी ग्रपना परिचय देते हुए रावण को ग्राने का उद्देश्य भी स्पष्ट करते हैं।

(2) ग्रंगद के चरित्र की निर्भीकता यहाँ ध्यातव्य है।

(3) भाषा भावानुकूल एवं प्रवाहपूर्ण है।

(4) ग्रनुप्रास, सन्देह ग्रौर पुनरुक्ति ग्रलंकार है।

(5) रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी॥
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नातें मानिए मिताई॥
ग्रंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही भेटा॥
ग्रंगद बचन सुनत सकुचाना। रहा बालि वानर मैं जाना॥
ग्रंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस ग्रनल कुल घालक॥
गर्भ न गयहु व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु॥
ग्रब कहु कुसल बालि कहँ ग्रहई। बिहँसि वचन तब ग्रंगद कहई॥
दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥
राम विरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई॥
सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्रीरघुवीर हृदय नहिं जाकें॥

हम कुल घालक सत्य तुम्ह कुल पालक दससीस।
अंधउ बधिर न अस कहहिं नयन कान तव बीस ॥ 5 ॥

शब्दार्थ—कपि-पोत—बन्दर का बच्चा। संभारी—सम्भलकर; होश में रहकर। मानिए—मानी जाती है। भई ही—हुई थीं। जायहु—पैदा हुआ। कहायहु—कहलाया। बालि पहिं जाई—बालि के पास जाएगा; मरेगा। उर लाई—हृदय से लगाकर। सत्य—सच बात है।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के अंगद-दौत्य नामक प्रसंग से अवतरित है। अंगदजी लंका में पहुँचकर रावण के दरबार में आसीन हैं। वहाँ दोनों का वार्तालाप होता है। अंगद रावण को राम की शरण में जाने का परामर्श देते हैं। इस पर रावण क्रोधित होकर अंगद से कहता है—

व्याख्या—अरे बानर के बच्चे! सम्भलकर बोल! अरे मूर्ख! तू मुझको नहीं जानता कि मैं देवताओं का शत्रु हूँ। भाई! अपना और अपने बाप का नाम बता। तू मुझसे सम्बन्ध से मित्रता मानता है? रावण की बात सुनकर अंगद जी उत्तर देते हैं—मेरा नाम किस अंगद है, मैं बालि का पुत्र हूँ। उससे तुम्हारी कभी भेंट हुई थी। अंगद का वचन सुनते ही रावण सकुचा गया और बोला कि हाँ, बालि एक बानर था। मैं उससे परिचित हूँ। अरे अंगद! तू ही बालि का पुत्र है? कुल का नाश करने वाला, वंश में कुल रूपी बाँस के लिए अग्निरूप पैदा हुआ है। तेरी माता का गर्भ न गिर गया! तू व्यर्थ पैदा हुआ कि अपने मुख से तू तपस्वी (राम) का दूत बनता है। अब बालि की कुशलता का समाचार बताओ, वह कहाँ है? तब रावण की यह बात सुनकर अंगद हँसकर वचन बोला—कुछ दिन बीतने पर बालि के पास जाकर अपने सखा को हृदय से लगाकर उससे कुशल पूछ लेना। भाव यह है कि थोड़े ही दिनों में तुम भी रामबाण से मारे जाकर वहीं भेजे जाओगे जहाँ बालि गया है। श्री रामचन्द्रजी से वैर करने से जैसी कुशल होती है वह सब तुझे वही सुनाएगा। अरे शठ! सुन, भेद उसके मन में ही होता है जिसके हृदय में श्री रघुवीर नहीं हैं।

अरे दशशीश! हम कुल के नाश करने वाले हैं और तुम सत्य ही कुल का पालन-पोषण करने वाले हो! अंधे और बहरे भी ऐसा नहीं कहते और तेरे तो बीस नेत्र और बीस कान हैं।

विशेष—(1) यहाँ अंगद ने प्रकारान्तर से 'कुलपालक' के माध्यम से रावण पर व्यंग्य किया है। व्यंग्य है—रावण का मिथ्यावादी होना।

(2) भाषा ओजगुण पूर्ण एवं प्रभावशाली है।

(6) सिव विरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥
तासु दूत होइ हम कुल बोरा। अइसिहुँ मति उर बिहर न तोरा॥
सुनि कठोर बानी कपि केरी। कहत दसानन नयन तरेरी॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति धर्म मैं जानत अहऊँ॥
कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर त्रिय चोरी॥
देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म ब्रतधारी॥

कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी ॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरसु हमहुँ बड़भागी ॥
जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल बल बिपुल ससि ग्रसन हेतु सब राहु ॥ 6 ॥ (क)

पुनि नभ सर मम कर निकर कमलन्हि पर करि बास।
सोभित भयउ मराल इव संभु सहित कैलास ॥ 6 ॥ (ख)

शब्दार्थ—समुदाई—समूह; भीड़। कुल बोरा—कुल को डुबाने वाला। बिहरू—फटना; दरकना। तरेरना—ग्राँखों को इस प्रकार करना जिससे क्रोध या अप्रसन्नता प्रकट हो। धर्मशीलता—धर्माचरण की वृत्ति। जागना—प्रसिद्ध होना; चमक उठना। जल्पना—व्यर्थ बकवाद करना। जन्तु—कीड़ा।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंकाकाण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। रावण के दरबार में रावण-अंगद का वार्तालाप होता है। यह संवाद उसी का एक अंश है। यहाँ अंगद अपने कथन को अग्रसर करते हुए रावण से कहते हैं—

व्याख्या—हे रावण ! शिव, ब्रह्मा, देवता और मुनियों का समुदाय जिसके चरणों की सेवा चाहते हैं, उसके दूत होकर हमने कुल को डुबा दिया। अरे ! ऐसी बुद्धि होने पर भी तेरी छाती नहीं फट जाती। कपि अंगद की कठोर वाणी सुनकर दशानन ग्राँखें तरेरकर बोला—अरे दुष्ट! मैं तेरे सब कठोर वचन सहता हूँ क्योंकि मैं नीति और धर्म भली-भाँति जानता हूँ। इस पर कपि अंगद ने उत्तर दिया—'हे रावण ! तेरी धर्म-निपुणता हमने भी सुनी है कि पर-स्त्री की चोरी की। दूत की रक्षा में तेरी धर्म-शीलता तो ग्राँखों देखी गयी। अरे धर्मव्रतधारी ! तू डूब नहीं मरता ! बहिन को नाक-कान-रहित देखकर तुमने धर्म ही विचार कर तो क्षमा किया ! तेरी धर्मशीलता सम्पूर्ण जग में जगमगा रही है; हम भी बड़े भाग्यवान् हैं कि तुम्हारा दर्शन पाया।

अंगद की व्यंग्यपूर्ण बातों को सुनकर रावण बोला—अरे जड़, कीड़े ! बानर ! व्यर्थ बकबक मत कर। अरे शठ ! मेरी भुजाएँ देख। ये सब लोकपालों के भारी बल रूपी बहुत से चन्द्रमाओं को ग्रसने के लिए राहु रूप है। फिर मेरा भुज-पराक्रम और सुन कि आकाश रूपी तालाब में मेरे भुजसमूह रूपी कमलों पर कैलास सहित शिवजी वास करते हुए हंस के समान शोभित हुए थे।

विशेष—(1) यहाँ रावण ने स्वयं अपने भुजबल और पराक्रम के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है। रावण का दर्प स्पष्ट प्रतिबिम्बित है।

(2) अनुप्रास, रूपक अलंकार हैं।

(7) तुम्हरे कटक माझ सुनु अंगद। मो सन भिरिहि कवन जोधा बद ॥
तव प्रभु नारि बिरहँ बलहीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना ॥
तुम्ह सुग्रीव कूलद्रुम दोऊ। अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥
जामवन्त मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा ॥

सिलिप कर्म जानहिं नल नीला। है कपि एक महा बलसीला॥
ग्रावा प्रथम नगरु जेहिं जारा। सुनत बचन कह बालि कुमारा॥
सत्य बचन कहु निसिचर नाहा। साँचेहुँ कीस कीन्ह पुर दाहा॥
रावन नगर ग्रल्प कपि दहई। सुनि ग्रस बचन सत्य को कहई॥
जो ग्रति सुभट सराहहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥
चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥

सत्य नगरु कपि जारेउ बिनु प्रभु ग्रायसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं तेहि भय रहा लुकाइ॥ 7॥ क
सत्य कहहि दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारे कटक ग्रस तो सन लरत जो सोह॥ 7॥ ख
प्रीति बिरोध समान सन करिग्र नीति ग्रसि ग्राहि॥
जौं मृगपति बध मेड़ुकन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि॥ 7॥ ग
जदपि लघुता राम कहुँ तोहि बधें बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्र जाति कर रोष॥7॥ घ
बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रतिउत्तर सड़सिन्ह मनहु काढ़त भट दससीस॥ 7॥ ङ
हँसि बोलेउ दसमौलि तब कपि कर बड़ गुन एक।
जो प्रतिपालइ तासु हित करइ उपाय ग्रनेक॥ 7॥ च

शब्दार्थ—माँझ—मध्य में। भिरिहि—भिड़ेगा; लड़ेगा। कवन—कौन। बद—कहो। कूलद्रुम—नदी किनारे का वृक्ष जो किसी भी समय गिर सकता है। तुम्ह सुग्रीव—तुम्हारा राजा सुग्रीव। ग्रनुज हमार—हमारा भाई; विभीषण। समरारूढ़—युद्ध के लिए सन्नद्ध। सिलपकर्म—वास्तुशिल्प। नल-नीला—नल ग्रौर नील नामक दो बानर जिन्होंने समुद्र पर सेतु बाँधा था। कीस—बानर। ग्रल्पकपि—छोटा वानर। केर—का। धावन समाचार पहुँचाने वाला दूत। पहिं—पास। रहा लुकाइ—छिप गया है। कोह—क्रोध। सोह—शोभा पाता है। करिग्र—किया जाए। ग्राहि—हैं। मेड़ुकन्हि—मेढ़कों को। छत्र जाति—क्षत्रिय जाति। सड़सिन्ह—सँड़ासियों से। दसमौलि—दस सिर वाला रावण।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण भक्तकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंकाकाण्ड के 'ग्रंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से ग्रवतरित है। रावण ग्रौर ग्रंगद—दोनों में वार्तालाप होता है। यहाँ पर रावण ग्रपने कथन को ग्रग्रसर करते हुए ग्रंगद से कहता है—

व्याख्या—ग्ररे ग्रंगद! सुन, तुम्हारी सेना में कौन योद्धा है जो मुझसे बढ़कर लड़ेगा? बता, मुझसे लड़ सके ऐसा कोई नहीं है। तेरा स्वामी राम स्त्री-विरह से बल-हीन हो गया है ग्रौर उसका भाई लक्ष्मण उसके दुःख से दुःखी ग्रौर उदास रहता है। तुम ग्रौर सुग्रीव दोनों तट के वृक्ष हो, निश्चय ही नष्ट होगे। रहा हमारा छोटा भाई विभीषण;

वह भी ग्रत्यन्त डरपोक है। जाम्बवन्त मन्त्री बहुत बूढ़ा है। वह ग्रब रण में क्या ठहर सकता है ग्रर्थात् नहीं ठहर सकता। नल-नील शिल्पकर्म जानते हैं। वे युद्धकला से ग्रन-भिज्ञ हैं। शिल्पकार युद्ध-कर्म क्या जाने ? कहीं ईंट-पत्थर जोड़ने वाला योद्धा होता है ? हाँ, राम की सेना में एक बानर महाबलवान् है जो लंका में पहली बार ग्राया था ग्रौर जिसने लंका जलाई थी। रावण के इस प्रकार के वचन सुनते ही ग्रंगद बोले—हे राक्षस-राज ! सच-सच कहो, क्या सत्य ही बानर ने पुर ग्रथवा नगर जला दिया था। रावण का नगर एक तुच्छ वानर जलावे, यह वचन सुनकर भला कौन इसे सच कहेगा ? ग्रर्थात् कोई विश्वास नहीं करेगा। हे रावण ! जिस वानर की तुमने ग्रत्यन्त योद्धा कहकर सराहना की है वह तो सुग्रीव का एक छोटा दूत है। जो बहुत चले वह वीर नहीं होता। हमने तो उसे खबर लेने भेजा था। उसकी तो गणना वीरों में है ही नहीं।

सत्य ही वानर ने बिना प्रभु की ग्राज्ञा पाकर नगर जला डाला ? इसी डर से वह लौटकर सुग्रीव के पास न गया, कहीं छिप रहा। हे दसग्रीव ! तुम सब सत्य कहते हो, मुझे सुनकर कुछ भी क्रोध नहीं है। सत्य ही हमारी सेना में कोई भी ऐसा नहीं है जो तुझसे लड़ने में शोभा पावे। भाव यह है कि तुझसे लड़ने में सब ग्रपनी हीनता समझते हैं, तुच्छ निशाचर से क्या लड़ें ? कोई जोड़ का होता तो लड़ते।

ग्रंगद ग्रपना कथन ग्रग्रसर करते हुए कहते हैं—प्रीति ग्रौर वैर बराबर वालों से की जाती है—यह नीति है। यदि सिंह मेढ़कों को मारे तो क्या उसे कोई भला कहेगा ? यद्यपि तेरे वध में श्रीरामचन्द्र जी की लघुता ग्रौर बड़ा दोष है तो भी, हे दसकंठ ! क्षत्रिय जाति का क्रोध कठिन होता है।

कवि का कथन है—वक्रोक्ति रूपी धनुष से वचन रूपी बाण मारकर ग्रंगद ने शत्रु का हृदय जला दिया। योद्धा रावण उन बाणों को मानो प्रत्युत्तर रूपी सँड़ासियों से निकाल रहा है। ग्राग में तपने पर लोहा सँड़ासी से ही निकाला जाता है।

ग्रंगद के व्यंग्य-बाणों को सहते हुए रावण कहता है—हे ग्रंगद, कपि का एक बड़ा गुण यह है कि जो उसका पालन-पोषण करता है उसका वह ग्रनेक उपायों से हित करता है। ग्रौर तुम भी श्रीरामचन्द्रजी के साथ ऐसा ही कर रहे हो।

विशेष—(1) यहाँ रावण बड़ी चातुरी से ग्रंगद को ग्रपनी ग्रोर मिलाने का प्रयास करता है।

(2) व्यंग्यात्मकता ग्रवतरण में स्पष्ट है।

(3) रूपक ग्रौर व्यंग्योक्ति ग्रलंकार है।

(8) धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति हित करइ धर्म निपुनाई॥
ग्रंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभु गुन कस न कहसि एहि भाँति॥
मैं गुन गाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करउँ नहिं काना॥
कह कपि तव गुन गाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहिं कछु कृत ग्रपकारा॥

सोइ विचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई ॥
देखेऊँ ग्राइ जो कछु कपि भाषा। तुम्हरे लाज न रोष न माखा ॥
जौ ग्रसि मति पितु खाए कीसा। कहि ग्रस वचन हँसा दससीसा ॥
पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। ग्रबहीं समुझि परा कछु मोही ॥
बालि बिमल जस भाजन जानी। हतऊँ न तोहि ग्रधम ग्रभिमानी ॥
कहु रावन रावन जग केते। मैं निज श्रवन सुने सुनु जेते ॥
बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला ॥
खेलहिं बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई ॥
एक वहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा ॥
कौतुक लागि भवन लै ग्रावा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा ॥

एक कहत मोहि सकुच ग्रति रहा बालि की काँख।
इन्ह महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख ॥ 8 ॥

शब्दार्थ—गुनगाहक —गुण ग्राहक; गुणों की खोज करने वाला। रटनि—वचन; बोल। ग्रपकार—बुराई, ग्रनादर। ढिठाई—दुष्टता। माखा—क्रोध। जितन—जीतने के लिए। हयशाला—घुड़साल।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण महाकवि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा बिरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के ग्रंगद-दौत्य प्रसंग से ग्रवतरित है। राजदरबार में ग्रंगद उपस्थित है। वहाँ रावण ग्रौर ग्रंगद—दोनों के मध्य वार्तालाप होता है ग्रौर दोनों ही प्रकारान्तर से एक-दूसरे को समझाने ग्रथवा ग्रपनी ग्रोर मिलाने का प्रयास करते हैं। प्रस्तुत कथन रावण का है जो ग्रंगद के प्रति सम्बोधित करता है।

व्याख्या—रावण ग्रंगद को सम्बोधित कर कहता है—"ग्ररे वानर! तू धन्य है कि ग्रपने स्वामी के कार्य के लिए लज्जा छोड़कर जहाँ-तहाँ नाचता है। नाच-कूद कर, लोगों को रिझाकर स्वामी का हित करता है। निश्चय ही यह उसके धर्म ग्रौर कर्तव्य की निपुणता है। हे ग्रंगद! तेरी जाति स्वामी-भक्त है। तब तू ग्रपने स्वामी का गुण इस प्रकार कैसे न कहे? ग्रर्थात् स्वामी-भक्त को स्वामी की बड़ाई करना योग्य ही है। मैं गुणग्राहक ग्रौर परम सुजान हूँ, इसीलिए तेरी रटी हुई ग्रौर कड़वी बातों पर ध्यान नहीं देता—यह समझकर कि यह तो स्वामिभक्त है, ऐसा कहेगा ही, स्वभाव छूट नहीं सकता; ग्रतः बकते हो। रावण की बात को सुनकर ग्रंगद जी ने उत्तर दिया—हे रावण! तेरी गुणग्राहकता सत्य है, पवनसुत हनुमान ने सत्य ही मुझे सुनाई है। ग्रशोक वन को नष्ट-भ्रष्ट कर, पुत्रों को मारकर उसने नगर को जलाया तो भी तुम्हारी समझ में उसके द्वारा तुम्हारा कोई ग्रपकार नहीं किया गया। वही तेरा सुन्दर स्वभाव विचार कर, रे दशकंधर! मैंने ढिठाई की। व्यंजना यह है कि तुम ऐसे कायर ग्रौर ग्रसमर्थ हो कि न हनुमानजी का कुछ कर सके ग्रौर न मेरा कुछ कर सकोगे। जो कुछ हनुमानजी ने कहा था वह ग्राकर मैंने यहाँ प्रत्यक्ष देख लिया है कि न तुममें लज्जा है, न रोष है, ग्रौर न क्रोध है। ग्रंगद की बातों को सुनकर रावण बोला—"ग्ररे बानर! ऐसी बुद्धि है तभी तो तूने ग्रपने बाप को खा लिया, उसे मरवा डाला।" ऐसे वचन कहकर दशसीस रावण हँसने लगा।

रावण के कथन को सुनकर अंगद बोल उठे—"चाहिए तो यह था कि पिता को खाकर फिर तुझको खाता, पर अभी-अभी कुछ बात मेरे विचार में आयी जिससे न खाया। अरे अधम और अभिमानी! बालि के निर्मल यश का पात्र जानकर मैं तुझे नहीं मारता, छोड़ देता हूँ। अरे रावण! बता तो सही कि जगत् में कितने रावण हैं? मैंने जितने अपने कानों से सुने हैं उनको सुन—एक रावण तो बलि को जीतने के लिए पाताल गया था तब लड़कों ने उसे घुड़साल में बाँध रखा था। बालक खेलते थे और जा-जाकर उसे लात मारते थे। बलि को दया आयी तब उन्होंने उसे छुड़ा दिया। फिर एक रावण को सहस्रबाहु ने देखा तो जैसे कोई विचित्र जन्तु को देखकर पकड़े उसी तरह उन्होंने उसको दौड़कर पकड़ लिया। कौतुक के लिए उसे घर ले गया। पुलस्त्य मुनि ने जाकर कहीं उसे छुड़ाया। एक रावण के बताने में मुझे अत्यन्त संकोच होता है, क्योंकि वह बालि की कांख में दबा रहा। इनमें से तू कौन रावण है? क्रोध छोड़कर सत्य-सत्य कह। भाव यह है कि ये सब घटनाएँ तुम्हीं पर तो न बीतीं।"

विशेष—(1) यहाँ अंगद के द्वारा रावण के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है और उसे कायर दिखाया गया है।

(2) अंगद की वाग्वैदग्धता ध्यातव्य है।

(3) संवाद त्वरायुक्त एवं प्रभावशाली हैं।

(4) अनुप्रास एवं व्यंग्योक्ति अलंकार हैं।

(5) भाषा प्रसाद गुणपूर्ण एवं प्रभावक है।

(9) सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हरगिरि जान जासु भुज लीला।
जान उमापति जासु सुराई। पूजेऊँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई।।
सिर सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेऊँ अमित बार त्रिपुरारी।।
भज विक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह कें उर साला।।
जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरउँ जाइ बरिआई।।
जिन्ह के दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे।।
जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी।।
सोइ रावन जग विदित प्रतापी। सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी।।
तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।
रे कपि बर्बर खर्ब खल अब जाना तव ग्यान।। 9।।

शब्दार्थ—सठ—मूर्ख, दुष्ट। सुराई—शूरवीरता। सरोज—कमल। अमित—असंख्य। त्रिपुरारि—शिव। विक्रम—बल। साल—कसक, पीड़ा। दिग्गज—दिशाओं के रक्षक हाथी। भिरउँ—भिड़ना। फूरे—धँसना (गुजराती)। अलीक—बे-सिर-पैर का। प्रलाप—निरर्थक वाक्य। तरनी—नाव। बखान—प्रशंसा करना। बर्बर—जंगली। खर्ब—जिसका अंग भंग या अपूर्ण हो—

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। अंगद ने रावण को बतलाया

कि मैंने तीन रावणों की गाथा सुनी है, उनमें से तुम कौन हो ? यह बतलाओ। इस पर रावण अंगद को उत्तर देते हुए कहता है—

व्याख्या—अरे शठ ! सुन, मैं वही बल से परिपूर्ण रावण हूँ जिसकी भुजाओं का चरित्र एवं क्रीड़ा शिवजी और कैलास जानते हैं, जिसकी शूरता उमापति महादेव जानते हैं कि जिनकी पूजा मैंने अपने शिर रूपी पुष्प चढ़ा-चढ़ाकर की। शिर रूपी कमलों को अपने हाथों उतारकर अगणित बार मैंने त्रिपुर दैत्य के शत्रु शिवजी की पूजा की है, और अरे शठ ! दिक्पाल मेरी भुजाओं का पराक्रम जानते हैं कि जिनके हृदय में अब भी करक हो रही है। पुनः, दिशाओं के हाथी मेरे हृदय की कठोरता को जानते हैं क्योंकि जब-जब मैं उनसे जबरदस्ती जा भिड़ा, तब-तब उनका विकराल (निकले हुए बड़े-बड़े भयंकर) दाँत मेरी छाती में न धँसे वरन् लगते ही मूली की तरह टूट गये। अर्थात् वक्षस्थल को कुछ श्रम न हुआ, वे लगते ही टूट गये। जिसके चलते समय पृथ्वी इस प्रकार हिलती है जैसे मतवाले हाथी के चढ़ते समय छोटी नाव—मैं वही जगत् प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ और उस रावण को तू लघु कहता है और मनुष्य की प्रशंसा करता है। अरे जंगली तुच्छ बानर ! अरे दुष्ट ! अब मैंने तेरा ज्ञान जान लिया; तेरी बुद्धि की थाह पा ली है।

विशेष—(1) यहाँ रावण की प्रशंसा, बल और पराक्रम का बखान स्वयं उसी के शब्दों में हुआ है।

(2) रूपक और अनुप्रास अलंकार हैं।

(10) सुनि अंगद सकोप कह बानी। बोलु सँभारि अधम अभिमानी।।
सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा।।
जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा।।
तासु गर्व जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा।।
राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।।
बैनतेय खग अहि सहसानन। चिन्तामनि पुनि उपल दसानन।।
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।
सेन सहित तव मान मथि बन उजारि पुर जारि ।
कस रे सठ हनुमान कपि गयउ जो तव सुत मारि ।।10।।

शब्दार्थ—सकोप—क्रोधपूर्वक । अधम—नीच । अनल—आग। कुठारा—कुठार। गर्व—मिथ्याभिमान। अभाग—दुर्भाग्यशाली। बंगा—मूर्ख, उद्दण्ड। शठ बंगा—लुच्चा। कस—क्यों, कैसे। बैन तेय—विनता के पुत्र गरुड़। सहसानन—सहस्र मुख वाले, शेषनाग जी। चिन्तामणि—मणि विशेष। उपल—पत्थर। अकुण्ठ—उत्तम, चोखी। मानमथि—अभिमान का मंथन। कस—कैसा।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। रावण ने वार्तालाप में अंगद को जाति, वचन, तन और स्वभाव सभी से दोषी ठहराया है। इस पर अंगद क्रोधित होकर रावण से कहते हैं—

व्याख्या—अरे नीच! अधर्मी! अभिमानी रावण, सँभलकर बोल। जिसका फरसा सहस्रबाहु की सहस्र भुजाओं रूपी अपार वन को जलाने के लिए अग्नि समान था और जिसके फरसा रूपी समुद्र की तीक्ष्ण धारा में अगणित राजा अनेक बार डूबे, जिसे देखते ही उन परशुराम का गर्व भाग गया, क्यों रे हतभाग्य दशशीश! क्या वह नर है? वह मनुष्य कैसे हो सकता है? क्यों रे उदण्ड मूर्ख! श्री रामचन्द्र जी मनुष्य कैसे? क्या कामदेव (जो पंच पुष्प-बाणों और पुष्प-धनुष से ही सारे संसार को वशीभूत कर लेता है वह कोई साधारण) धनुर्धारी है? और क्या गंगा, त्रिपथगामिनी, शिव शीश पर रहने वाली और जगत् को पावन करने वाली साधारण नदी है? क्या कामधेनु, अर्थ-धर्मादि को देने वाली साधारण पशु हो सकती है? मनोवाँच्छित देने वाला कल्पवृक्ष क्या साधारण वृक्ष है? क्या अन्नदान दान है? और मृत को जिला देने वाला अमृत क्या साधारण रस है? गरुड़, जो भगवान् के वाहन, कामरूप और भगवान् के सखा हैं, जिनके पक्षों से सामदेव की ध्वनि होती है, वे साधारण पक्षी हैं? एक ही शिर पर सारे ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले सहस्र मुख वाले शेष जी साधारण सर्प हैं? और, अरे दशमुख! सुन, क्या मनोरथ का देने वाला चिन्तामणि साधारण पत्थर है?

क्यों रे शठ! क्या जो सेना सहित तेरा मान-मर्दन कर वन को उजाड़, नगर को जला और तेरे लड़के को मारकर सुखपूर्वक यहाँ से लौट गया, क्या वह हनुमान साधारण वानर है? अर्थात् ये सब साधारण नहीं हैं।

विशेष—यहाँ काकूवक्रोक्ति है।

(11) सनु रावन परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई।
जौं खल भएसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद सक राखि न तोही॥
मूढ बृथा जनि मारसि गाला। राम बयर अस होइहि हाला॥
तव सिर निकर कपिन्ह के आगें। परहहिं धरनि राम सर लागें॥
तै तव सिर कंदुक सम नाना। खेलहहिं भालु कीस चौगाना॥
जबहिं समर कोपिहि रघुनायक। छूटिहहिं अति कराल बहु सायक॥
तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। अस विचारि भजु राम उदारा॥
सुनत वचन रावन परजरा। जरत महानल जनु घृत परा॥
कुँभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहु जितेऊँ चराचर झारि॥ 11॥

शब्दार्थ—चतुराई—धूर्तता। ब्रह्म—ब्रह्मा। मारसि गाला—डींग मारना। कंदुक—गेंद। चौगान—एक खेल जिसमें लकड़ी के बल्ले से गेंद मारते हैं, खेल का मैदान। समर—युद्ध। सायक—बाण। परजरा—बहुत जल उठना। सक्रारि—इन्द्र का शत्रु। झारि—समस्त।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महात्मा तुलसीदास द्वारा विचरित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ अंगद जी ने रावण को राम-भजन करने का परामर्श दिया है।

व्याख्या—अंगद रावण को सम्बोधित कर कहते हैं—अरे रावण ! क्रूरता छोड़कर सुन। चतुराई छोड़कर दयासागर रघुपति का भजन क्यों नहीं करता ? अरे दुष्ट ! यदि तू श्री रामचन्द्र का द्रोही हुआ तो ब्रह्मा और रुद्र भी तुझे नहीं रख सकते। अरे मूढ़ ! व्यर्थ गाल न बजा। श्रीराम जी से बैर करने से तेरा यह हाल होगा कि तेरा सिर-समूह रामबाण के लगने से वानरों के आगे पृथ्वी पर गिरेंगे। रीछ-वानर तेरे गेंद के समान उन अनेक सिरों से चौगान खेल खेलेंगे। जब श्री रघुनाथ जी समर में कोप करेंगे और अत्यन्त तीक्ष्ण बहुत से बाण छूटेंगे तब क्या इस प्रकार तुम्हारा गाल बजेगा ? अर्थात् तुम यह सब शेखी भूल जाओगे। ऐसा हृदय में विचार कर उदार चरित्र वाले श्रीराम का भजन कर। इसी में तेरा कल्याण है। अंगद के इस प्रकार के व्यंग्य-वचन सुनते ही रावण बहुत ही जल उठा, मानो जलती हुई प्रचण्ड अग्नि में घी पड़ गया। वह कहने लगा—कुम्भकर्ण जैसा तो मेरा भाई है। इन्द्र को जीतने वाला विख्यात इन्द्रजित मेरा पुत्र है। और, क्या तूने मेरा पराक्रम नहीं सुना कि मैंने सारा चराचर जगत् जीत लिया। दूसरे शब्दों में, मैं सभी प्रकार से समर्थ हूँ।

विशेष—(1) यहाँ रावण के बल के अभिमान का वर्णन है।

(2) लक्षणामूलक व्यंग्य है।

(3) संवाद में त्वरा, सजीवता और प्रवाह ध्यातव्य है।

(4) भाषा विषयानुकूल और प्रभावशाली है।

(12) सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई ॥
नाघहिं खग अनेक बारीसा। सूर न होहिं ते सुनु सब कीसा ॥
मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा ॥
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा ॥
दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। भूप सुजस खल मोहि सुनावा ॥
जौं पै समर सुभग तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुन गाथा ॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा ॥
हरगिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू ॥
सूर कवन रावन सरिस स्वकर काटि जेहि सीस।
हुने अनल अति हरष बहु बार साखि गौरीस ॥ 12 ॥

शब्दार्थ—साखामृग—वानर। सहाई—सहायता से। जोरि—सेना, समूह। नांघहि उल्लंघन करते हैं, पार करते हैं। नीर भरावा—अधीन बना लिया। भूप—राजा। बसीठ—दूत। हरगिरि मथन—कैलास को मथने वाली, बोझ के दर्प का मंथन करने वाली। हुने अनल—अग्नि में हवन कर दिए।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास विरचित 'रामचरितमानस' के 'लंका-काण्ड' के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ रावण ने अपना पराक्रम और शक्ति के सम्बन्ध में व्यक्त किया है। अंगद के प्रति रावण का कथन है—

व्याख्या—हे शठ अंगद ! वानरों की सहायता जुटाकर समुद्र में सेतु बाँधा, यही

शूरता है न ? अनेक पक्षी समुद्रों को लाँघ जाते हैं। पर, रे शठ कीश ! वे समुद्र लाँघने से शूर नहीं हो सकते। मेरा भुजा रूपी सागर बल रूपी जल से पूर्ण है, जिसमें बहुत-से शूरवीर देवता और मनुष्य डूब गये। कौन ऐसा शूरवीर है जो मेरे इन अगाध और अपार बीस समुद्रों रूपी भुजाओं को पार कर पायेगा ? रे दुष्ट ! मैंने लोकपालों से जल भरवाया, और तू एक राजा का सुयश सुनाता है। मुझसे बढ़कर तेज और प्रताप जिसमें हो उसका यश सुनाता तो ठीक था। यदि तेरा स्वामी, जिसका तू बारम्बार यश कहता है, समर में सुभट है तो दूत किस कार्य के लिए भेजता है ? शत्रु से प्रीति अथवा सन्धि करते लज्जा नहीं आती ? रे मूर्ख बन्दर ! कैलास को मन्थन करने वाली मेरी भुजाएँ देख, फिर अपने प्रभु की सराहना करना। भाव यह है कि इनको देख लेगा तब उन राम की सराहना न करेगा। रावण के समान कौन शूर है जिसने अत्यन्त हर्षपूर्वक बहुत बार अपने हाथों अपने सिर काटकर अग्नि में हवन कर दिए। गौरीपति शिव इसके साक्षी हैं।

विशेष—(1) यहाँ रावण की शूरवीरता उसके अपने शब्दों में व्यंजित है।

(2) लक्षणाशक्ति है।

(3) प्रतीप, रूपक अलंकार हैं।

(13) जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥
नर कें कर आपन बध बाँची। हसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥
सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरें। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरें॥
आन बीर बल सठ मम आगें। पुनि-पुनि कहसि लाज पति त्यागें॥
कह ंगद सलज्ज जग माहीं। रावन तोहि समान कोउ नाहीं॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥
सिर अरु सैल कथा चित रही। ताते बार बीस तैं कही॥
सो भुजबल राखेहु उर घाली। जीतेहु सहसबाहु बलि बाली॥
सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटें सीस कि होइअ सूरा॥
इंद्रजालि कहुं कहिअ न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा॥
जरहि पतंग मोह बस भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं समुझि देखु मतिमंद॥ 13॥

शब्दार्थ—विधि—ब्रह्मा। गिरा—वाणी। त्रास—दुःख। जरठ—वृद्ध। पति—मर्यादा। सुभाऊ—स्वभाव। सैल—पर्वत। काउ—कभी। इन्द्रजालि—इन्द्रजाल, जादू।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ रावण अपने बल और पराक्रम के सम्बन्ध में बतलाता है।

व्याख्या—रावण अंगद को सम्बोधित कर कहता है—हे अंगद ! जब मैंने मस्तकों के जलते समय विधि के लिखे हुए अक्षर ललाटों पर देखे तब मनुष्य के हाथों अपना वध पढ़ विधि की वाणी असत्य जानकर हँसा। वह भी समझकर मेरे मन में डर नहीं है, बुढ़ापे में बुद्धि भुलक्कड़ हो जाने से बुड्ढे ब्रह्मा ने ऐसा लिख दिया होगा। अरे शठ ! तू

लज्जा और प्रतिष्ठा छोड़कर मेरे आगे बारम्बार दूसरे वीर का बल क्यों कहता है ? इस पर अंगद का कथन है—हे रावण ! तेरे समान सलज्ज संसार में कोई नहीं है। तेरा सहज स्वभाव ही लाजवन्त है, तू तो अपने मुख से अपना गुण कभी कहता ही नहीं है। सिर काटने और कैलास पर्वत उठाने की कथा चित्त में रह गयी इससे बीसों बार तूने कही। तूने वह अपना भुजबल हृदय में डाल रखा है जिससे तुमने सहस्रबाहु, बलि और बाली को जीता था। अरे मन्दबुद्धि ! अब उत्तर दे। सिर काटने से क्या कोई शूर हो जाता है ? इन्द्रजाली (जादूगर) को कोई वीर नहीं कहता, यद्यपि वह तो अपने हाथ से अपना सारा शरीर काट डालता है। भाव यह है कि तूने तो अपने सिर ही काटे, इसी पर इतना गर्व है कि अपने को शूर मान बैठा है और दूसरों से अपनी गणना शूरों में कराना चाहता है।

अंगद जी का आगे कथन है—अरे मन्दबुद्धि ! मन में समझकर देख कि मोहवश पतंगे अग्नि में जल मरते हैं और गधों के झुण्ड बोझा लादकर ले चलते हैं, पर वे शूरवीर नहीं कहे जाते। कहने का अर्थ है कि रावण शूरवीर नहीं है।

विशेष—(1) रावण और अंगद का संवाद बड़ा ही प्रभावी बन पड़ा है।

(2) अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

(14) अब जनि बतबढ़ाव खल करही। सुनु मम बचन मान परिहरही॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। अस बिचारि रघुबीर पठायउँ॥
बार-बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जसु बधें सृकाला॥
मन महुँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे।
नाहिं त करि मुख भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा॥
जानेउँ तब बल अधम सुरारी। सूने हरि आनिहि परनारी॥
तै निसिचर पति गर्ब बहूता। मैं रघुपति सेवक कर दूता॥
जों न राम अपमानहि डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥
तोहि पटकि महि सेन हति चौपट करि तव गाउँ॥
तव जुवतिन्ह समेत सठ जनक सुतहि लै जाउँ॥ 14॥

शब्दार्थ—बतबढ़ाव—बहस। पठायउँ—भेजा गया हूँ। गजारि—सिंह। सृकाला—शृंगाल। बरजोरा—बलपूर्वक। सूनें हरि—सूने में हरण करके। रघुपति सेवक कर दूता—राम के सेवक सुग्रीव का दूत हूँ।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। इस अवतरण में अंगद ने रावण को मिथ्याभिमान त्याग करने का परामर्श देते हुए अपने पराक्रम का सशक्त शब्दों में वर्णन किया है।

व्याख्या—अंगद रावण को सम्बोधित कर कहता है—हे खल ! अब विवाद न बढ़ा। मेरा वचन सुन और मान छोड़ दे कि मेरा कुम्भकर्ण ऐसा भाई है, इन्द्रजीत पुत्र है और मैंने तो चराचर मात्र को जीता है; तब मेरा कोई क्या कर सकता है ? यदि राम

सुभट होते यो सन्धि की बात क्यों करते ? रे दशमुख ! मैं दौत्यकर्म के लिए नहीं आया। श्री रघुवीर ने यह विचार कर मुझे भेजा है—वह दयालु बराबर ऐसा कहते हैं कि गीदड़ को मारने में सिंह को यश नहीं होता। अरे शठ ! प्रभु के वचन मन में समझकर मैंने तेरे कठोर वचन सहे, नहीं तो तेरा मुँह तोड़कर श्री सीता जी को बलपूर्वक ले जाता। हे सुरारि ! हे अधम ! मैंने तेरा बल जान लिया। तू सूने में पर-स्त्री चुरा लाया, बल होता तो श्री लक्ष्मण जी से ही लड़कर न लाता। तू राक्षसराज है, तुझे बहुत गर्व है और मैं रघुनाथ जी का दास-दूत हूँ। जो मुझे श्री रामचन्द्र जी के अपमान का डर न होता तो तेरे देखते-देखते ऐसा तमाशा करता कि तुझको पथ्वी पर पटककर, सेना को मारकर और तेरे गाँव को चौपट कर तेरी स्त्रियों समेत श्री जनकसुता को लेकर चला जाता।

विशेष—(1) अंगद का अपनी शक्ति सम्बन्धी कथन प्रभावशाली है।

(2) अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

(15) जौं अस करौं तदपि न बड़ाई। मुएहि बधें नहिं कुछ मनुसाई।।
कौल काम बस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।।
सदा रोगबस संतत क्रोधी। विष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी।।
तनु पोषक निंदक अघखानी। जीवत सव मम चौदह प्रानी।।
अस विचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही।।
सुनि सकोप कह निसीचर नाथा। अधर दसन दसि मीजत हाथा।।
रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी।।
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाकें। बल प्रताप बुधि तेज न ताकें।।
अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनवास।
सो दुख अरु जुवती बिरह पुनि निसि दिन मम त्रास।।15।। क
जिन्ह के बल कर गर्ब तोहि अइसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवस निसि मूढ़ समुझु तजि टेक।।15।। ख

शब्दार्थ—जौ अस करौं—यद्यपि ऐसा करूँ। मनुसाई—पुरुषार्थ, पौरुष। कौल—वाम मार्गी। कृपिन—कंजूस। संतत—निरन्तर। अघखानी—पापों का भण्डार। रिस—क्रोध। जल्पना—डींग मारना। दसना—काटना। दशन—दाँत। अगुण—गुण रहित, निर्गुण। अमान—अप्रतिष्ठित। टेक—हठ, अड़।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विरचित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ अंगद का रावण के प्रति कठोर सम्भाषण है।

व्याख्या—अंगद रावण को सम्बोधित कर कहता है—जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई की बात नहीं है। मरे हुए को मारने में कुछ पुरुषत्व नहीं कहा जा सकता। वाम-मार्गी, कामी, कंजूस, अत्यन्त मूढ़, अ यन्त दरिद्र, कलंकी, अत्यन्त वृद्ध, सदा रोगी रहने वाले, निरन्तर क्रोधयुक्त रहने वाला, विष्णु बिमुख, श्रुति और सन्त का विरोध करने वाला अपना ही शरीर वा शरीर को आत्मा जानकर पोषण करने वाला, निन्दा करने

वाला, पाप की खानि—ये चौदह प्राणी जीते ही मृतक के समान हैं। ये सब पाप की खान हैं और जीते जी ही मुर्दा तुल्य हैं। अरे खल ! ऐसा विचार कर मैं तेरा वध नहीं करता। बस अब मुझसे क्रोध पैदा न करवा। अंगद के वचन सुनकर राक्षसराज क्रुद्ध होकर दाँतों से होंठों को काटकर हाथ मलता हुआ बोला—अरे नीच वानर ! अब तू मरना ही चाहता है। अरे जड़ वानर ! तू जिसके बल पर कड़वे वचन बक रहा है, उसमें बल, प्रताप, बुद्धि और तेज कुछ भी नहीं है। गुणहीन, प्रतिष्ठाहीन जानकर उसे उसके पिता दशरथ ने बनवास दिया। एक तो उस राम को यह दुःख, उस पर पत्नी के वियोग का कष्ट और फिर रात-दिन उसे मेरा डर बना रहता है। जिनके बल का तुझे गर्व है ऐसे अनेक मनुष्यों को रात-दिन राक्षस खाया करते हैं। अरे मूढ़ ! जिद्द छोड़कर बात को समझने का प्रयास कर।

विशेष—(1) अंगद-रावण के मध्य वार्तालाप में रावण का चरित्र उभरकर आया है।

(2) भाषा भावानुकूल और प्रवाहपूर्ण है।

(3) अनुप्रास अलंकार है।

(16) जब तेहिं कीन्हि राम कैं निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा।।
हरि हर निंदा सुनइ जो काना। होई पाप गोघात समाना।।
कटकटान कपिकुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि भारी।।
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे।।
गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर।।
कछु तेहिं लै निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पवारे।।
आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिन हीं लूक परन बिधि लागे।।
की रावन करि कोप चलाए। कुलिस चारि आवत अति धाए।।
कह प्रभु हँसि जनि हृदयँ डेराहू। लूक न असनि केतु नहिं राहू।।
ए किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे।।
तरकि पवनसुत कर गहे आनि धरे प्रभु पास।
कौतुक देखहिं भालु कपि दिनकर सरिस प्रकास।। 16।। क

उहाँ सकोपि दसानन सब सन कहत रिसाइ।
धरहु कपिहि धरि मारहु सुनि अंगद मुसुकाइ।। 16।। ख

शब्दार्थ—गोघात—गो हत्या। तमकि—क्रोध करके। खसे—गिरं पड़े। भय मारुत ग्रसे—भय की हवा से ग्रस्त। गिरत—गिरता हुआ। सिरन्हि—सिरों पर। पावरे—फेंके। लूक परन—तारों का टूटना, उल्कापात। कुलिस—वज्र। की—या तो किरीट—मुकुट। बालितनय—बालि के पुत्र। के प्रेरे—के द्वारा फेंके गए। तरकि—कूदकर। धरहु—पकड़ो। धरिमारहु—पकड़कर मारो।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीदास द्वारा विचरित 'रामचरितमानस' के लंका-काण्ड के 'अंगद-दौत्य' नामक प्रसंग से अवतरित है। यहाँ राम की निन्दा सुनकर

अत्यन्त क्रोध में अंगद पैर पटकते हैं। उस समय का वर्णन करते हुए कवि तुलसीदास लिखते हैं—

व्याख्या—जब रावण ने श्री रामचन्द्र जी की निन्दा की तब कपिश्रेष्ठ अंगद अत्यन्त क्रोधित हुए क्योंकि जो हर अथवा हरि की निन्दा कान से सुनता है उसे गोवध के समान पाप होता है। कपिश्रेष्ठ अंगद बहुत जोर से कटकटाया। अंगद ने दाँत पीसे जिससे कटकट का शब्द हुआ और क्रोध में आकर अपने दोनों भुजदण्ड पृथ्वी पर दे मारे। पृथ्वी के हिलते ही सभासद् गिर गये और भय रूपी पवन से ग्रस्त हो भाग चले। दशकन्धर रावण गिरते-गिरते सँभलकर उठा। उसके अत्यन्त सुन्दर मुकुट पृथ्वी पर गिर पड़े। कुछ तो उसने लेकर अपने सिरों पर सजाये और कुछ अंगद ने उठाकर प्रभु के पास चलते कर दिए। मुकुटों को आते देख बन्दर भागे। वे सोचने लगे कि हा! विधाता, क्या दिन में ही तारे टूटकर गिरने लगे, उल्कापात होने लगा अथवा रावण ने क्रोध करके चार वज्र चलाये हैं, जो बहुत वेग से दौड़े हुए आ रहे हैं। बानरों को भयभीत देखकर प्रभु रामचन्द्र हँसकर बोले कि बानरो, मन में डरो मत। ये न लूक हैं, न केतु है और न राहू। ये दशग्रीव रावण के मुकुट हैं जो बालि-पुत्र अंगद के भेजे हुए आ रहे हैं।

पवन पुत्र हनुमान जी ने उछलकर उन्हें हाथ से पकड़ लिया और प्रभु के पास लाकर रख दिए। उनकी चमक सूर्य के प्रकाश के समान थी। रीछ और बानर तमाशा देखने लगे, वहाँ रावण की सभा में रावण कुपित हो सबसे क्रोधित हो कहने लगा कि वानर को पकड़ लो और पकड़कर मार डालो। यह सुनकर अंगद मुस्कराने लगे।

विशेष—(1) यहाँ कवि ने प्रकारान्तर से अंगद की शक्ति का परिचय दिया है और बताया कि जब साधारण सेवक ऐसा शक्तिशाली है तब उसका स्वामी कितना प्रभावशाली होगा।

(2) संदेह, भ्रान्तापह्नुति अलंकार हैं।

गीतावली : लक्ष्मणमूर्छा

(1) राम-लषन उर लाय लये हैं।
भरे नीर राजीव-नयन सब अँग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु-मुख बचन प्रीति गुथए हैं।
सेवक-सखा भगति-भायप-गुन चाहत अब अथए हैं॥
निज कीरति-करतूति तात! तुम सुकृती सकल जए हैं।
मैं तुम्ह बिनु तनु राखि लोक अपने अपलोक लए हैं॥
मेरे पनकी लाज इहाँलौं हठि प्रिय प्रान दए हैं।
लागति साँगि बिभीषन ही पर, सीपर आपु भए हैं॥
सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि-गन, सुर सोच सुखाइ गए हैं।
तुलसी आइ पवनसुत-विधि मानो फिर निरमये नए हैं॥

शब्दार्थ—ससोक—शोक सहित। विलोकि—देखकर। भगति—भक्ति। भायप—भ्रातृत्व, भाईपन। सुकृति—पुण्यवान्। पन—प्रण, प्रतिज्ञा। सीपर—ढाल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। मेघनाद की शक्ति से मूच्छित लक्ष्मण को देखकर राम परिताप करने लगे—इसी विषय का वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—मेघनाद की शक्ति से मूच्छित हुए लक्ष्मण को राम ने अपने हृदय से लगा लिया। प्रभु राम के कमलोपम नेत्र जल से परिपूर्ण हो उठे और उनके अंग परितप्त हो उठे। उस समय राम अपने भाई लक्ष्मण के मुख को देखकर, शोकसहित होकर, प्रीतियुक्त वचन कहने लगे। सेवक, मित्र, भक्ति एवं भ्रातृत्व के गुण अब विलीन होने जा रहे हैं। हे तात! तुमने अपनी कीर्ति एवं कार्यों से समस्त पुण्यवानों को जीत लिया है। तुम्हारे बिना मैंने इस शरीर को रखकर इस लोक में अपयश ही अर्जित किया है। मेरे द्वारा किये हुए प्रण की लाज तुमने यहाँ तक निभाई कि तुमने अपने प्राणों का ही हठपूर्वक उत्सर्ग कर दिया है। मेघनाद की यह शक्ति लगनी तो थी विभीषण के, किन्तु तुमने उसके वार को अपने ऊपर सह लिया। तुम उसके लिए ढाल बन गये। प्रभु रामचन्द्र के इन वचनों को सुनकर वानर, वृक्ष एवं सुरगण शोक के कारण सूख गये। तुलसीदास कहते हैं कि ब्रह्मारूपी हनुमान ने वहाँ आकर मानो उन सभी को पुनः नये सिरे से बना दिया हो।

विशेष—(1) यहाँ प्राकृत जन के रूप में राम के प्रीतियुक्त भावों का मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है।

(2) भाव-साम्य की दृष्टि से निम्न अंश देखें—

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले वचन मनुज अनुसारी॥
सहहू न दुखित देखि मोहि कोऊ। बन्धु सदा तब मृदुल सुभाऊ॥
बहु बिधि सोचन सोचविमोचन। स्त्रवत सलिल राजिबदल लोचन॥
प्रभु प्रलाप सुनि कान विकल भए बानर निकर॥

(3) **अलंकार**—रूपक।

(2) मोपै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लखन-सो भाई॥
पुर, पितु-मातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन-बिपति बँटाई।
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यौ न प्रान पठाई॥
जानत हौं या उर कठोरतें कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुतको दरकि दरार न जाई॥
तात-मरन, तिय-हरन, गीध-बध, भुज दाहिनी गँवाई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥

शब्दार्थ—मोपै—मुझसे। भायप—भ्रातृत्व। परिहरि—छोड़कर। ता संग—उसके साथ। हौं—मैं। कुलिस—वज्र। सुमित्रा-सुत—लक्ष्मण। दरकि—फटकर। कुलहि—कुल को।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंकाकाण्ड

के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। श्रीराम लक्ष्मण को मूर्च्छित देखकर परम दुःखित हुए और लक्ष्मण के विषय में अपने भाव व्यक्त करने लगे—इसी विषय का वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—राम कहने लगे—मुझसे तो कुछ भी नहीं हो सका। आज लक्ष्मण जैसा मेरा भाई मेरे साथ अपना भ्रातृ-प्रेम भली प्रकार निभाकर यहाँ से चला गया। जिसने नगर, माता-पिता एवं समस्त सुखों का परित्याग कर वन में मेरे साथ आकर मेरी विपत्ति को बँटाया था, मैं उसके साथ शोक को त्यागकर अपने प्राणों को देवलोक को नहीं भेज सका। सम्भवतः वज्र ने स्वाभाविक कठोरता मेरे इस कठोर हृदय से ही ग्रहण की है इसीलिए लक्ष्मण के प्रेम का स्मरण कर मेरे हृदय में फटकर कोई दरार नहीं हुई। पिता की मृत्यु, स्त्री (सीता) का हरण, गृद्धराज जटायु का वध और दाहिनी भुजा अर्थात् लक्ष्मण का गँवाना—यह सब मेरे ही कारण हुआ है, सब प्रकार से अपने कुल को कालिमा मैंने ही लगाई है।

विशेष—(1) भाव-साम्य की दृष्टि से रामचरितमानस का निम्न अंश देखें—

ममहित लागि तजेहु पितु-माता। सहेहु बिपिन हिम आतम बाता॥
असमय जिवन बन्धु बिन तोही। जो जड़ दैव जिआवै मोही॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥

(2) **अलंकार**—अनुप्रास।

(3) मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेर्‌यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन-सो भ्राता॥
गिरि, कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे॥

शब्दार्थ—पुरुषारथ—पुरुषार्थ, पौरुष। काको—किसका। साँचेहु—सचमुच ही। बदन—मुख। फेर्‌यो—मोड़ लिया, फेर लिया। कानन—वन। जैहैं—जावेंगे। साखामृग—वानर। सँघाती—संगी, साथी। विकल—व्याकुल। हिय—हृदय। औसर—अवसर, मौका। जानि—जानकर। प्रचारि—प्रेरित किया, उत्तेजना दी।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। लक्ष्मण को मूर्च्छित देखकर, राम, कपि, रीछ सभी दुःखित हो उठे हैं—इसी अवसर पर जाम्बवान् ने हनुमान को बुलाकर उत्तेजित किया—इसी विषय का वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—राम ने कहा—अब मेरा पौरुष थक गया। मेरी विपत्तियों को बँटाने वाले भाई-रूपी भुजा के बिना अब मैं किसका भरोसा करूँ? हे सुग्रीव! विधाता ने सचमुच ही मुझसे अपना मुँह फेर लिया है। यही कारण है कि इस समय युद्ध-संकट में

लक्ष्मण सरीखे भाई ने मुझे त्याग दिया है। वानर पर्वत एवं जंगलों से चले जायेंगे और मैं अपने छोटे भ्राता लक्ष्मण का साथ लूंगा, मेरा हृदय तो यही सोचकर भरा जा रहा है कि विभीषण की क्या गति होगी ! तुसलीदास कहते हैं कि प्रभु राम के इन वचनों को सुनकर समस्त रीछ एवं वानर हृदय में व्याकुल होकर हारे हुए से रह गए हैं। इसी बीच जाम्बवान् ने हनुमान को बुलाकर उन्हें प्रेरित किया।

विशेष—(1) यहाँ भाई को भुजा के रूप में व्यक्त किया गया है।

(2) यहाँ राम के द्वारा व्यक्त परिताप मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

(3) भाव-साम्य की दृष्टि से रामचरितमानस का निम्न अंश देखें—

सुत वित नारि भुवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।
अस बिचारि जियं जागहु ताता। मिला न जगत् सहोद्दर भ्राता।।
बहुविधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन।।

(4) **अलंकार**—रूपक।

(4) जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल-ज्यों, आनि सुधा सिर नावौं।।
कै पाताल दलौं व्यालावलि अमृत-कुंड महि लावौं।
भेदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं।।
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि, तौ प्रभु-अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यौं, सबहिको पापु बहावौं।।
तुम्हरिहि कृपा, प्रताप तिहारेहिं नेकु विलंब न लावौं।
दीजै सोइ आयसु तुलसी-प्रभु, जेहि तुम्हरे मन भावौं।।

शब्दार्थ—अनुसासन—आदेश, आज्ञा। चैल—वस्त्र। चन्द्रमहि—चन्द्रमा को। निचोरि—निचोड़कर। आनि—लाकर। सुधा—अमृत। व्यालावलि—सर्पों की पंक्ति अर्थात् सर्प-समूह। महि—पृथ्वी। भेदि—भेदकर। तावौं—ढक दूं। बरबस—बलपूर्वक। अनुग—अनुचर, सेवक। मीच—मृत्यु। तुम्हरिहि—तुम्हारी ही। नेकु—तनिक विलम्ब—देर। आयसु—आदेश। जेहि—जिससे।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। प्रस्तुत पद में हनुमान द्वारा इस अवसर पर व्यक्त भावों का वर्णन तुलसीदास ने किया है।

व्याख्या—पवन-पुत्र हनुमान ने राम से कहा—इस समय यदि मुझे आपकी आज्ञा प्राप्त हो जावे तो मैं चन्द्रमा को वस्त्र के सदृश निचोड़कर उससे अमृत को लाकर आपके सम्मुख सिर झुकाऊँ। या, मैं पाताल में जाकर सर्पों को दलित कर वहाँ से अमृत-कुण्ड को इस धरती पर ले आऊँ अथवा समस्त भुवनों को भेदकर वहाँ से रवि को बाहर निकालकर उसके स्थान पर राहु को स्थापित कर उसे ढक दूँ—तात्पर्य यह है कि प्रातः-काल न होने दूँ। अथवा, यदि मैं देवताओं के वैद्य अर्थात् अश्विनीकुमारों को बलात् यहाँ ले आऊँ—तभी मैं प्रभु का अनुचर कहलाऊँगा। मैं नीच मृत्यु को मूषक के समान

पटक दूँ और इसी प्रकार मैं समस्त जन के पापों का निवारण कर दूँ ताकि किसी को भी मरणजन्य भय न सतावे। हे भगवान् ! आपकी कृपा एवं आपके प्रताप के परिणामस्वरूप इन कार्यों के सम्पादन में मुझे तनिक भी विलम्ब नहीं होगा। हे तुलसीश ! जैसा आपके हृदय को रुचिकर प्रतीत हो, वैसा ही मुझ सेवक को आप आदेश दीजिए।

विशेष—(1) यहाँ हनुमान के हार्दिक भावों की अभिव्यक्ति मनोहारी ढंग से हुई है।

(2) यह प्रभु की कृपा एवं उनके प्रताप का ही सुफल है कि हनुमान प्रभु के सेवक होने के नाते कठिन कार्यों को सम्पादित करने के लिए तत्पर दृष्टिगोचर हो रहे हैं—

(3) भाव-साम्य—उमा न कछु कपि की अधिकाई।
प्रभु प्रताप जेहिं कालहिं खाई।

(5) सुनि हनुमंत-बचन रघुवीर।
सत्य, समीर-सुवन सब लायक, कह्यो राम धरि धीर॥
चहिये बैद, ईस-आयसु धरि सीस कीस बलऐन।
आन्यो सदन सहित सोवत ही, जौ लौं पलक परै न॥
जियै कुँवर, निसि मिलै मूलिका, कीन्हीं बिनय सुषेन।
उठ्यो कपीस, सुमिरि सीतापति, चल्यो सजीवनि लेन॥
कालनेमि दलि बेगि बिलोक्यौ द्रोनाचल जिय जानि।
देखी दिव्य ओषधी जहँ तहँ जरी न परि पहिचानि।
लियो उठाय कुधर कंदुक-ज्यौं, बेग न जाइ बखानि॥
ज्यौं धाए गजराज उधारन सपदि सुदरसनपानि॥
आनि पहार जोहारे प्रभु, कियो बैदराज उपचार।
करुनासिंधु बंधु भेंट्यो, मिटि गयो सकल दुख-भार॥
मुदित भालु-कपि-कटक, लह्यो जनु समर पयोनिधि पार।
बहुरि ठौरही राखि महीधर आयो पवनकुमार॥
सेन सहित सेवकहि सराहत पुनि पुनि राम सुजान।
बरषि सुमन, हिय हरषि प्रसंसत बिबुध बजाइ निसान॥
तुलसीदास सुधि पाइ निसाचर भए मनहु बिनु प्रान।
परी भोरही रोर लंकगढ, दई हाँक हनुमान्॥

शब्दार्थ—समीर-सुवन—पवनपुत्र। धरि—धारण कर, रखकर। सीस—सिर (सं० शीर्ष)। कीस—वानर (कीश)। बल ऐन—बल के भण्डार। जौ लौं—जब तक। निसि—रात्रि। मूलिका—बूटी। सुषेन—वैद्य का नाम। सजीवनि—संजीवनी औषधि। द्रोनाचल—द्रोण नामक पर्वत। जिय—हृदय। कंदुक—गेंद। बखानि—वर्णन करना। उधारन—उद्धार करना। सपदि—शीघ्रतापूर्बक। कुधर—पहाड़ (कु-पृथ्वी)। सुदरसन पानि—सुदर्शन चक्र को हाथ में धारण करने वाले प्रभु विभु विष्णु। जोहारे—अभिवादन किया। बैदराज—वैद्यराज। कटक—सेना। जनु—मानो। समर-पयोनिधि—

रण रूपी सागर। बहुरि—पुनः। महीधर—पर्वत। सुजान—निपुण, चतुर। विबुध—देव। निसान—दुंदुभि। भोर—प्रातःकाल। हाँक—हुंकार।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंकाकाण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। पवनपुत्र हनुमान जड़ी-बूटियों के समूचे पर्वत को ही ले आये—औषधि के प्रयोग से लक्ष्मण सचेत हो गये—प्रातः होते ही हनुमान ने हुंकार की—लंका में हाहाकार मच गया—इसी विषय का वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—हनुमान के वचनों को सुनकर भगवान् राम ने धैर्य धारण कर उनसे कहा—हे पवनपुत्र ! तुमने जो कुछ कहा है—सब सत्य ही है। तुम समस्त कार्यों को करने में सक्षम हो। इस समय तो वैद्य की आवश्यकता है। भगवान् के इस आदेश को सिर से धारण कर, बल आगार कपीश हनुमान, निमिष-मात्र में ही वैद्य को उसके घर समेत वहाँ उठा लाए। वहाँ आकर सुषेन वैद्य ने विनयपूर्वक कहा—यदि रात ही में संजीवनी बूटी मिल जावे तो कुमार जीवित हो सकते हैं। तभी कपीश हनुमान उठे और सीतापति राम का स्मरण करते हुए संजीवनी बूटी लेने के लिए वहाँ से चल दिये। मार्ग में कालनेमि का दलन कर एवं द्रोणाचल को देखकर उसे अपने मन से पहचान लिया। उन्होंने वहाँ अनेक जड़ी-बूटियाँ प्रकाशमान देखीं किन्तु उस विशेष बूटी को न पहचान सके। अतएव उन्होंने उस समूचे पर्वत को ही गेंद के समान उठा लिया। उनके उस समय के वेग का वर्णन करना अशक्य है। उस पर्वत को उठाकर वे इस प्रकार दौड़े जिस प्रकार गजराज का उद्धार करने के लिए सुदर्शनपाणि विष्णु भगवान् दौड़ रहे हों। हनुमान ने उस समूचे पर्वत को वहाँ लाकर प्रभु को अभिवादन किया। वैद्यराज ने लक्ष्मण का उपचार किया अर्थात् लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हो गयी। करुणानिधान प्रभु रामचन्द्र ने अपने भाई लक्ष्मण का आलिंगन किया और इस प्रकार समस्त दुःखों का निवारण हो गया। उस समय बानरों एवं रीछों की सेना परमानन्दित हो उठी मानो उन्होंने युद्ध रूपी समुद्र को पार कर लिया हो। तदनन्तर हनुमान उस पर्वत को पुनः वहाँ स्थापित कर वापस लौट आए। उस समय सेना समेत भगवान् राम अपने सेवक हनुमान की बारम्बार प्रशंसा करने लगे। पुष्पों की वृष्टि होने लगी। देवगण हृदय में हर्षित हो-होकर सराहना करने लगे तथा दुंदुभी-वादन करने लगे। तुलसीदास कहते हैं कि इस समाचार (लक्ष्मण सचेत हो उठे) को प्राप्त कर राक्षसजन मानो निष्प्राण हो गये। प्रातःकाल होते ही हनुमान ने हुंकार लगाई और उधर लंकागढ़ में हाहाकार मच उठा।

विशेष—(1) यहाँ हनुमान का एक कर्तव्यनिष्ठ अनुचर के रूप में सुन्दर चित्रांकन हुआ है।

(2) भावसाम्य की दृष्टि से निम्न अंश देखें—

राम पदारविंद सिर, नाउउ आइ सुषेन।।
कहा नाम गिरि औषधी, जाहु पवन सुत लेन।।
रामचरन सरसिज उर राखी। चला प्रभंजन सुत बल भाषी।।
हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना।।

तुरत वैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठ लछिमन हरषाई ॥
हृदय लाइ भेटेउ भ्राता। हरषै सबल भालु कपि व्राता ॥
कपि पुनि बैद तहाँ पहुंचावा। जेहिं विधि तबहिं ताहि लइआवा ॥
यह वृतान्त दसानन सुनेऊ। अति विषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊ ॥

(3) **अलंकार**—अनुप्रास तथा रूपक।

(6) कौतुक ही कपि कुधर लियो है।
चल्यो नभ नाइ माथ रघुनाथहि, सरिस न बेग बियो है ॥
देख्यो जात जानि निसिचर, बिनु फर सर हयो हियो है।
पर्‍यो कहि राम, पवन राख्यो गिरि, पुर तेहि तेज पियो है ॥
जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज, जीवन दान दियो है।
दुख लघु लषन मरम-घायल सुनि, सुख बड़ो कीस जियो है ॥
आयसु इतहि, स्वामि-संकट उत, परत न कछू कियो है।
तुलसिदास बिदर्‍यो अकास, जो कैसेकै जात सियो है ॥

शब्दार्थ—कुधर—पर्वत (कु-पृथ्वी)। नाइ—झुकार। सरिस—समान। वियौ—दूसरा। फर—फाल, गांसौ। सर—वाण (शर)। लषण—लक्ष्मण। कीस—वानर (सं० कीश)। इतहि—इधर। उत—उधर। विद्र्‌यो—फट गया।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-कांड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। आकाश मार्ग से आते हुए हनुमान् को राक्षस समझकर भरत ने वाण मार दिया—इसी घटना का मर्मस्पर्शी वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—पवनपुत्र हनुमान ने उस पर्वत को लीला में ही उठा लिया और प्रभु राम को अपना सिर झुकाकर आकाश मार्ग से चल दिये—उस समय उनके वेग के समान किसी अन्य का वेग नहीं था। आकाश मार्ग से जाते हुए हनुमान् को कोई राक्षस जानकर उनके हृदय में गाँसी रहित वाण मारा। हनुमान् 'राम' शब्द कहकर वहाँ गिर पड़े। उस समय पवनदेव ने पर्वत को साध लिया—ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो नगर ने उसके तेज का पान कर लिया हो—तात्पर्य यह है कि अयोध्या की रक्षार्थ पवनदेव ने उस पर्वत को साध लिया। उनके मुख से उच्चरित 'राम' शब्द को सुनकर भरत हनुमान के पास पहुँचे और उन्हें गोद में भर लिया—इस प्रकार भरत ने उन्हें जीवनदान दिया—लक्ष्मण के घायल हो जाने का समाचार सुनकर भरत के हृदय में थोड़े से दुःख की अनुभूति हुई किन्तु हनुमान को जीवित देखकर उन्होंने परम सुख माना। भरत मन में सोचने लगे—मुझे इधर प्रभु राम की आज्ञा अयोध्या में निवास करने की मिली हुई है और उधर स्वामी पर यह संकट आ पड़ा है किन्तु उस समय उनसे कुछ भी नहीं बन पा रहा था। भरत की हार्दिक स्थिति के विषय में तुलसीदास कहते हैं कि उस समय उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था कि आकाश विदीर्ण हो गया हो—उसे किस प्रकार सिया जावे।

विशेष—(1) यहाँ भरत की मनोदशा का स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

(2) भावसाम्य की दृष्टि से निम्न अंश देखें—

गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ। अवधपुरी ऊपर कपि गयऊ॥
देखा भरत बिसाल अति निशिचर मन अनुमानि।
बिनुफर सायक मारऊ चाय श्रवन लगि तान॥
परेऊ मुरछि महिं लागत सायक। सुमिरत राम-राम रघुनायक॥
सुनि प्रियवचन भरत तब धाए। कपि समीप अति आतुर आए॥
विकल विलोकि कीस उर लावा। जागत महि वहु भाँति जगावा॥
जो मोरे मन वच अरु काया। प्रतीति राम पद कमल अमाया॥
तो कपि होउ विगत श्रम सूला। जो मोपर रघुपति अनुकूला॥
सुनत वचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसला धीसा॥
प्रीति न हृदय समाइ सुमिरि राम रघुकुल तिलक॥

(3) अलंकार—अनुप्रास।

(7) भरत-सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है।
राम-लषन रन जीति अवध आए, कैधौं मोहि भ्रम,
कैधौं काहू कपट ठयो है॥
प्रेम पुलकि पहिचानिकै पदपदुम नयो है।
कह्यो न परत जेहि भाँति दुहू भाइन,
सनेहसों उर लाय लयो है।
समाचार कहि गहरु भो, तेहि ताप तयो है॥
कुधर सहित चढ़ौ बिसिष, बेगि, पठवौं सुनि
हरि हिय गरब गूढ़ उपयो है॥
तीरतें उतरि जस कह्यो चहै, गुनगननि जयो है।
धनि भरत! धनि भरत! करत भयो,
मगन मौन रह्यो मन अनुराग रयो है॥
यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लंघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है।
तुलसिदास रघुबीर बंधु-महिमाको सिंधु,
तरि को कबि पार गयो है?॥

शब्दार्थ—सत्रु सूदन—शत्रुघन। कैधौं—अथवा। पद पदुम—कमल रूपी चरण (पद्म)। दुहू—दोनों। सनेहसों—स्नेह से। बिसिष—वाण। मगन—मग्न, लीन।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-कांड के लक्ष्मण-मूर्छा प्रसंग से अवतरित है। यहाँ तुलसीदास ने भरत-हनुमान मिलन के समय के तत्सामयिक मनोभावों का वर्णन किया है।

व्याख्या—कपिराज हनुमान वहाँ भरत एवं शत्रुघन को देखकर चकित रह गये। वे अपने मन में विचार करने लगे—क्या राम-लक्ष्मण युद्ध में विजय प्राप्त कर अयोध्या

में पुनः वापस ग्रा पहुँचे हैं ग्रथवा मुझे वैसे ही मात्र भ्रम हो रहा है ग्रथवा किसी के द्वारा इस प्रकार का कपटाचरण किया गया है। तदनन्तर हनुमानजी ने उन्हें पहिचान कर, प्रेम-पुलकित होकर, उनके कमलरूपी चरणों से ग्रपना मस्तक नत किया। उन्होंने भरत एवं शत्रुघन दोनों भाइयों को परम स्नेहपूर्वक जिस प्रकार से हृदय से लगाया—उस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। हनुमान ने उन्हें सब समाचार कह सुनाया ग्रौर कहा कि ग्रब विलम्ब हो रहा है। उस समय भरत समस्त समाचारों को सुनकर संतप्त हो उठे। वे कहने लगे—हनुमान! तुम पर्वत सहित मेरे बाण पर चढ़ जाग्रो। मैं तुम्हें ग्रभी शीघ्र ही वहाँ प्रभु राम के पास भेजे दे रहा हूँ। यह सुनकर हनुमान भरत के वाण पर ग्रारूढ़ हो गये ग्रौर उन्होंने मन में समझ लिया कि उनके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है—ऐसा सोचकर ग्रौर वाण से उतर कर उन्हें भरत का यशोगान करने की ग्रभिलाषा हुई। इस प्रकार भरत के गुणों ने हनुमान को विजित कर लिया। उनका हृदय भरत के ग्रनुराग में रंजित हो उठा ग्रौर वे 'भरत धन्य हैं'—इस प्रकार कहते हुए भरत विषयक प्रेम में निमग्न होकर मौन रह गये। तुलसीदास कहते हैं कि सगर पुत्रों ने समुद्र को खोदा है ग्रौर सुरासुरों ने समुद्र का मंथन किया है, हनुमानजी ने इस सागर पर सेतु की रचना की है ग्रौर मुनि ग्रगस्त्य ने इसको पान ही कर किया है किन्तु प्रभु राम के भाई भरत की महिमा के समुद्र को तर कर, ऐसा कौन कवि है, जो इस समुद्र को पार कर गया हो।

विशेष—(1) यहाँ भरत की महिमा का वर्णन किया गया है।

(2) भावसाम्य की दृष्टि से निम्न ग्रंश देखें—

कपि सब चरित समास बखाने। भए दुखी मन महूँ पछिताने।
ग्रहह देव मैं कत जग जायउ। प्रभु के एकहु काज न ग्रायउ।।
जानि कुग्रवसर मन धरि धीरा। पुनि करि मन बोले बलबीरा।।
चढ़ मम सायक सैल समेता। पठवां तांहि जँह कृपानिकेता।।
सुनि कपि मन उपजा ग्रभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना।।
राम प्रताप विचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी।।

(3) **ग्रलंकार**—रूपक।

(४) होतो नहि जौ जग जन्म भरत को।
तौ, कपि कहत, कृपान-धार मग चलि ग्राचरत बरत को?।।
धीरज-धरम धरनिधर-धुरहूँतें गुर धुर धरनि धरत को?
सब सदगुन सनमानि आनि उर, ग्रघ-ग्रौगुन निदरत को?
सिवहु न सुगम सनेह रामपद सुजननि सुलभ करत को?
सृजि निज जस-सुरतरु तुलसी कहँ, ग्रभिमत फरनि फरत को? ।।

शब्दार्थ—जग—संसार। जनम—जन्म। मग—मार्ग। को—कौन। धर-निधर—पर्वत, धरणिधर। गुर—भारी, गुरू। धरनि—पृथ्वी। (धरिणा)। धुर—भार। सदगुन—ग्रच्छे गुण। सनमानि—सम्मानित कर। ग्रानि—लाकर, रखकर। ग्रघ—पाप। ग्रौगुन—ग्रवगुण। सनेह—स्नेह। सुजननि—सुजनों के लिए। सृजि—सृजन कर।

निज—अपना। जस-सुरतरु—यशरूपी कल्पवृक्ष। अभिमत—अभीष्ट। फरनि—फल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। यहाँ तुलसीदास ने भरत के प्रति हनुमान् द्वारा व्यक्त भावों का वर्णन किया है।

व्याख्या—भरत की महिमा का वर्णन करते हुए हनुमान ने कहा—इस जगत् में यदि भरत का जन्म न हुआ होता तो कृपाण की धाररूपी इस विषम मार्ग पर चलते हुए इस प्रकार के प्रेमाचरण का कौन बर्ताव करता ? पृथ्वी में पर्वतों के भार से भी भारी धैर्य एवं धर्म के भारी भार को भला कौन उठाता ? समस्त सद्गुणों को सम्मान-पूर्वक हृदय में धारण कर पापों तथा अवगुणों का निदलन भला कौन करता ? शिव के लिए भी दुर्लभ प्रभु राम के चरणों में स्नेह सुजनों के लिए कौन सुलभ करता और सुयश-रूपी कल्पवृक्ष का सृजन कर तुलसीदास के लिए कौन अभीष्ट फल प्रदान करता ?

विशेष—(1) यहाँ भरत का यशोगान किया गया है।

(2) **अलंकार**—रूपक।

(9) सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं॥
छिन-छिन गात सुखात, छिनहिं छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपिसों कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
तात ! जाहु कपि सँग, रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु विधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

शब्दार्थ—रन—युद्ध, रण। सुभटसों—परमयोद्धा से। सुवन-शोक—पुत्र-शोक। भगति—भक्ति। छिन-छिन—क्षण-क्षण, प्रतिक्षण। गात—शरीर, गात्र। अंब—माता। अंबक—नेत्र। अंबु—जल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। लक्ष्मण के घायल होने के समाचार को सुनकर सुमित्रा के हृदय में हर्ष एवं विषाद दोनों की अनुभूति हुई—इसी विषय का वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—लक्ष्मण युद्ध-क्षेत्र में घायल अवस्था में पड़े हुए हैं—और उन्होंने अपने स्वामी (राम) के कार्य अर्थात् विपक्षी योद्धा मेघनाद को युद्धक्षेत्र में ललकारते हुए लोहा लिया है—यह समाचार सुमित्रा ने जब सुना तो पुत्र की दशा का स्मरण कर उन्हें शोक हुआ किन्तु, शोक के साथ सन्तोष भी हुआ—इसलिए कि उन्होंने अपने कार्य द्वारा राम की भक्ति का दृढ़तापूर्वक पालन किया है। उस समय उनकी दशा ऐसी हो रही थी कि

एक क्षण में शोकानुभूति के कारण उनके शरीर के अंग सूख जाते थे तो दूसरे ही क्षण में उल्लास की अनुभूति के कारण वे अंग पुनः हरे अर्थात् उल्लसित हो जाते थे। उस समय माता सुमित्रा के नेत्र जल से परिपूर्ण हो उठे—उन्होंने स्वभावश कपिराज हनुमान से कहा—ऐसे आपदग्रस्त समय में अर्थात् कुअवसर पर राम अपने भाई के बिना रह गए—यद्यपि दूसरा साथी उनका धनुष है इसलिए उन्हें किसी अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है। तत्पश्चात् सुमित्रा शत्रुघन को सम्बोधित करते हुए कहने लगीं—हे तात! तुम कपिराज हनुमान के साथ जाओ। यह सुनते ही शत्रुघन हाथ जोड़कर खड़े हो गए। उस समय उनका शरीर पुलकित हो उठा। वे परमानन्दित हो गए—ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो दैव-संयोग से उनके दाव पूरे सही पड़ गए हों—कहने का तात्पर्य यह है कि शत्रुघन ने हृदय में ऐसा अनुभव किया कि ऐसा अवसर भला कहाँ मिलेगा—यह देवसंयोग परमानन्द का है—उन्हें प्रभु के दर्शन एवं सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त होगा—उन्हें अभीष्ट फल की मानो प्राप्ति हो गई। उस समय माता सुमित्रा तथा भाई शत्रुघन की इस दशा को देखकर हनुमान तथा भरत ग्लानि से गले जा रहे थे। तुलसीदास कहते हैं कि उस समय माता ने सबको समझा-बुझाकर सचेत किया।

विशेष—(1) यहाँ माता के हर्ष-विषादमय आन्तरिक भावों की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

(2) "रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं, प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु विधिबस सुढ़र ढरैं हैं"—अंश से शत्रुघन के भ्रातृ-प्रेम की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है।

(3) **अलंकार**—अनुप्रास।

(10) बिनय सुनायबी परि पाय।
कहौं कहा, कपीस! तुम्ह सुचि, सुमति, सुहृद सुभाय॥
स्वामि-संकट-हेतु हौं जड़ जननि जनम्यो जाय।
समौ पाइ, कहाइ सेवक घट्यो तौ न सहाय॥
कहत सिथिल सनेह भो, जनु धीर घायल घाय।
भरत-गति लखि मातु सब रहि ज्यौं गुड़ी बिनु बाय॥
भेंट कहि कहिबो, कह्यो यों कठिन-मानस माय।
लाल! लोने लषन-सहित सुललित लागत नाँय॥
देखि बंधु-सनेह, अंब-सुभाउ, लषन-कुठाय।
तपत तुलसी तरनि-त्रासकु एहि नये तिहुँ ताय॥

शब्दार्थ—परि पाय—चरणों में पड़कर। सुचि—पवित्र। सुमति—बुद्धिमान। हौं—मैं। जनम्यो—उत्पन्न हुआ। समौ—समय। घाय—घाव। गति—दशा। लखि—देखकर। ज्यौं—जिस प्रकार। गुड़ी—पतंग। बिनु—बिना। बाय—हवा। कठिन-मानस—कठोर हृदय वाली। माय—माता। लौन—लावण्यपूर्ण। नाँय—नाम। सनेह—स्नेह। अंब-सुभाउ—माता का स्वभाव। तरनि-त्रासकु—सूर्य के लिए भय उत्पन्न करने वाले। ऐहि—इन। तिहुं—तीन। ताय—ताप।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से अवतरित है। प्रस्तुत पद में तुलसीदास ने राम के प्रति भरत द्वारा व्यक्त विनयपरक भावों का वर्णन किया है।

व्याख्या—भरत ने हनुमान से कहा—हे कपीश ! तुम प्रभु राम के चरणों में पड़कर मेरी ओर से एक विनती सुना देना। मैं तुमसे इस विषय में और अधिक क्या कहूँ—स्वभाव से ही पवित्र, बुद्धिमान एक अच्छे मित्र हो। मुझ जैसे जड़ को मेरी जननी ने केवल प्रभु राम अर्थात् स्वामी को संकट पहुँचाने के लिए वृथा ही उत्पन्न किया। वैसे मैं उनका सेवक कहलाता हूँ—किन्तु समय उपस्थित होने पर मैं उनके किसी काम न आ सका—मैं किसी भी प्रकार की उनकी सहायता न कर सका। इस प्रकार कहते हुए भरत भ्रातृ-स्नेह से शिथिल हो गए, जिस प्रकार कोई धीर स्वभाव वाला व्यक्ति भी घाव से घायल होने पर शिथिल हो जाता है। सभी माताएँ भरत की ऐसी दशा देखकर इस प्रकार से रह गईं जिस प्रकार वायु के न होने पर पतंग की दशा हो जाती है। माता कौशल्या परमवीर हनुमान से इस प्रकार कहने लगीं—राम से भेंट कर यह कह देना कि तुम्हारी कठिन हृदय वाली माता ने कहा है—हे लाल ! तुम्हारा नाम तो लक्ष्मण के सहित ही सुमनोहर लगता है—कहने का तात्पर्य यह है कि तुम वन से लक्ष्मण के सहित ही लौटकर आना—तभी तुम शोभायुक्त होगे। तुलसीदास कहते हैं कि मातृ-स्नेह, माता-स्वभाव एवं विषद-ग्रस्त लक्ष्मण के विषय में देखते-समझते हुए सूर्य के लिए त्रास उत्पन्न करने वाले हनुमान इन तीन नये तापों से तप्त हो उठे।

विशेष—(1) यहाँ हनुमान के स्वाभाविक गुणों का उल्लेख हुआ है।

(2) यहाँ माताओं की दशा की तुलना वायुहीन पतंग की दशा से की गई है।

(3) कोशल्या द्वारा राम के प्रति प्रेषित सन्देश में मूल-मंतव्य को भर दिया गया है।

(4) यहाँ प्रयुक्त शब्द 'कठिन-मानस' का अभिव्यंजित अर्थ विशेष रूप से मर्म-स्पर्शी बन पड़ा है।

(5) 'लोने लषन-सहित सुललित लागत नाँय'—में परम मनोहर भावाभि-व्यंजना हुई है।

(6) इस पद में उल्लिखित नये तापत्रय से सूर्य को त्रस्त कर देने वाले हनुमान भी तप्त हो उठे हैं—अभिव्यक्ति का चमत्कार विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

(7) **अलंकार**—अनुप्रास।

(11) हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै॥
मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि, जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै।
सोभा-सुख, छति-लाहु भूपकहुँ, केवल कांति-मोल हीरै॥
तुलसी सुनि-सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लषन की प्रीतिकी क्यों दीजै खीरै-नीरै॥

शब्दार्थ—घाउ—घाव। पीर—पीड़ा, दर्द, कसक। बिसराय—भूलकर।

सरीरे—शरीर को। मोहिं—मुझसे। कहा—क्या। बूझत—पूछना। पुन-पुनि—बार-बार। ग्ररथ—ग्रर्थ। कीरे—तोते की। छति—क्षति, हानि। लाहु—लाभ। भूप कहं—राजा के लिए, राजा से सम्बन्धित। सौमित्रि—लक्ष्मण। खीरै—दूध से (सं० क्षीर)। नीरै—पानी से (सं० नीर)।

प्रसंग—प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'गीतावली' के लंका-काण्ड के लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग से ग्रवतरित है। संजीवनी ग्रौषधि के सेवन से लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हो गई—वे सचेत हो उठे—इसी विषय का वर्णन तुलसीदास ने प्रस्तुत पद में किया है।

व्याख्या—संजीवनी बूटी के सेवन से सचेत हुए लक्ष्मण से उनकी पीड़ा के विषय में पूछा गया तो उस समय प्रेम-पुलकित होकर एवं ग्रपने शरीर की सुधि को भूलकर लक्ष्मण ने कहा—मेरे हृदय में मात्र घाव ही है किन्तु घाव की पीड़ा तो राम को है। जिस प्रकार कोई तोता रटे-रटाये पाठ को सुना सकता है—उसका ग्रर्थ नहीं जानता—उसके सम्मुख ग्रर्थ की चर्चा करना व्यर्थ ही है, इसी प्रकार ग्राप मुझसे पीड़ा के विषय में बार-बार क्यों पूछ रहे हैं? हीरे की शोभा, सुख, लाभ-हानि—इन सबका सम्बन्ध तो राजा से ही होता है—हीरे की तो मात्र कांति ग्रौर उसका मूल्य ही है। तुलसीदास कहते हैं कि लक्ष्मण द्वारा ग्रभिहित इन वचनों को सुनकर परम धीर जन भी धैर्य धारण नहीं कर सकते। राम तथा लक्ष्मण के पारस्परिक प्रेम की उपमा दुग्ध तथा जल से भी किस प्रकार दी जा सकती है!

विशेष—(1) यहाँ राम तथा लक्ष्मण के भ्रातृ-प्रेम से परिपूर्ण भावों का सुन्दर वर्णन हुग्रा है।

(2) **ग्रलंकार**—ग्रनुप्रास।

कवितावली : बालवर्णन

(1) ग्रवधेसके द्वारें सकारें गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
ग्रवलोकि हों सोच बिमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिकसे॥
तुलसी मन-रंजन रंजित-ग्रंजन नैन सुखंजन-जातक से।
सजनी ससिमें समिसील उभै नवनील सरोरुह से बिकसे॥1॥

शब्दार्थ—ग्रवधेस—ग्रयोध्या नगरी के राजा (दशरथ)। द्वारे—दरवाजे पर। सकारे—सवेरा। लै—लेकर। निकसे—निकले। ग्रवलोकि—देखकर। हौं—मैं। सोच विमोचन—शोक से मुक्त करने वाले। ठगि-सी रही—मोहित-सी हो गई। धिक—धिक्कार। रंजित-ग्रंजन—काजल लगे हुए। नैन—नैत्र। खंजन—पक्षी विशेष। जातक—बच्चा। सजनी—सखी। ससि—चन्द्रमा। उभै—दोनों (सं० उभय)। सरोरुह—कमल।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण में गोस्वामी तुलसीदास ने प्रभु राम के बाल-रूप का वर्णन किया है।

व्याख्या—एक सुन्दरी ग्रपनी सखी को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि हे

सखि ! मैं प्रातः अयोध्या नगरी के राजा दशरथ के द्वार पर पहुँची—इसी बीच वे अपने पुत्र (राम) को अपनी गोद में लिये हुए भवन से बाहर निकले। समस्त शोकों से मुक्त करने वाले बाल-रूप को देखकर मैं तो मोहित हो गई—ठगी-सी रह गई। बाल-रूप राम के इस अनिंद्य सौन्दर्य को देखकर जो मोहित नहीं होते, उन्हें धिक्कार है। खंजन पक्षी के बच्चे के सदृश चपल, काजल लगे हुए तथा मन को मोहित करने वाले बालक राम के उन नेत्रों को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो चन्द्रमा के भीतर अर्थात् चन्द्रमण्डल में समान गुण वाले दो नवीन नील कमल विकसित हो गये हों।

विशेष—(1) यहाँ नेत्रों का साधर्म्य में खंजन शावक के नेत्रों को उपस्थित किया गया है, इससे चपलता ध्वनित हो रही है।

(2) "जे न ठगे धिक से" में तुलसी की अनन्य भावना अभिव्यंजित हो रही है।

(3) यहाँ बालक राम के रूप-लावण्य विषयक प्रभाव का वर्णन एक सुन्दरी के द्वारा किया है।

(4) नेत्रों का सादृश्य खंजन के नेत्रों से करना एक प्रकार से कवि-रूढ़ि के अन्तर्गत है। सूरदास ने श्रीकृष्ण के नेत्रों का वर्णन इस प्रकार किया है—

"देख री हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज-चपलाई, नहिं पट तर इक सैन।"

(5) **अलंकार**—उपमा एवं गम्योत्प्रेक्षा।

(2) पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि मंजु बनी मनिमाल हिए।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृपु गोद लिएँ॥
अरबिंदु सो आननु रूप मरंदु अनंदित लोचन भृंग पिएँ।
मनमो न बस्यो अस बालकु जौं तुलसी जगमें फलु कौन जिएँ॥2॥

शब्दार्थ—पग—पैर, चरण। नूपुर—घुँघरू। औ—और। करकंजनि—कमल रूपी हाथों में। मंजु—मनोहर। मनिमाल—मणियों की माला। हिए—हृदय पर (वक्षस्थल पर)। कलेवर—शरीर। पीत—पीला। झंगा—चोगा, लम्बा कुर्ता। पुलकै—पुलकित। अरविन्द—कमल। सौ—समान। आनन—मुखमण्डल। रूपमरंद—रूप रूपी पराग। लोचन-भ्रंग—नेत्र रूपी भौंरे। अस—ऐसा। जग—जगत्।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में तुलसीदासजी ने प्रभु राम के बाल-रूप का वर्णन किया है।

व्याख्या—बालक राम के चरणों में घुंघरू, कमल-रूपी हाथों में पहुँचियाँ तथा वक्षस्थल पर मनोहर मणियों की माला सुशोभित प्रतीत हो रही है। उनके नवीन नीले कमल जैसे वर्ण अर्थात् श्याम शरीर पर पीले रंग का चोगा (झगला) झलक रहा है। ऐसे रूप-माधुरी से युक्त बालक राम को राजा दशरथ गोद में लिये हुए पुलकित हो रहे हैं। उनके नेत्ररूपी भौंरे उनके मुखमण्डल के सौन्दर्य रूपी पराग का पान करने में प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे परम सुन्दर बालक राम को यदि अपने हृदय में न बसाया तो इस संसार में जीने का फल ही क्या है अर्थात् मनुष्य-जीवन के उत्कृष्ठ फल की प्राप्ति इसी में है कि वह ऐसी अनुपम छवि से युक्त बालक

राम को अपने मन में बसायें अर्थात् उसका मन से ध्यान तरे।

विशेष—(1) यहाँ बाल-रूप का मनोहर एवं नख-शिख वर्णन हुआ है।

(2) बालक के लिए द्वार-दर्शन कराना शास्त्रोक्त प्रमाण है।

(3) भावात्मक तुलना के लिए रामचरितमानस का निम्न अंश देखें—

"उर मनिहार पदिक की सोभा। विप्रचरन देखत मन लोभा।
× × ×
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।"

(4) **अलंकार**—उपमा एवं रूपक।

(3) तनकी दुति स्याम सरोरुह लोचन कंजकी मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंगकी दूरि धरैं॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यौं किलकैं कल बालबिनोद करैं।
अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं॥3॥

शब्दार्थ—तन—शरीर। कंज—कमल। मंजुलताई—मनोहरता। हरैं—हरण करना। सोहत—शोभित होना। छवि—शोभा। अनंग—कामदेव। दंतियाँ—छोटे-छोटे दाँत। दुति—कांति (सं० द्युति)। दामिनि—बिजली। ज्यों—जिस प्रकार। किलकै—किलकारियाँ मारना। कल—मधुर, मनोहर। विनोद—मन-बहलाव। मन-मन्दिर—मन रूपी मन्दिर—। विहरै—विहार करना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में तुलसीदास ने कामना की है कि राजा दशरथ के चारों पुत्र (बाल-रूप) उनके अन्तस् में निवास करें।

व्याख्या—उनके शरीर की काँति श्याम वर्ण वाले कमल के सदृश है और नेत्र कमलों की मनोहरता को हरण करने वाले हैं। जब वे धूल-धूसरित होते हैं तब ये परम सुन्दर प्रतीत होते हैं—उस समय की सुन्दरता के समक्ष कामदेव की सुन्दरता भी फीकी जान पड़ती है। जब वे किलकारियाँ मारते हैं और आपस में हँसते हैं तब उनके छोटे-छोटे दाँत दमकने लगते हैं, जिस प्रकार विद्युत् दमक रही हो। अतः मैं तुलसीदास यही कामना करता हूँ कि मेरे मन-रूपी मंदिर में अयोध्या के नृप दशरथ के चारों बालक सदैव विहार करें।

विशेष—(1) 'मन मंन्दिर' से मन की पवित्रता एवं एकाग्रता अभिव्यक्त हो रही है।

(2) यहाँ बाल-रूप का माधुर्यपूर्ण वर्णन हुआ है।

(3) भावात्मक तुलना के लिए रामचरितमानस का निम्न अंश देखें—

धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति विहंसि गोद बैठाएँ।

(4) **अलंकार**—रूपक।

(4) कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइकै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठिकै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं॥4॥

शब्दार्थ—कबहूँ—कभी। ग्रारि करैं—हठ करना। प्रतिबिंब—परछाईं। निहारि—देखकर। करताल—हाथों की ताली। मातु—माता। मोद—ग्रानन्द। जेहि-लागि—जिसके लिये। ग्ररै—ग्रड़ जाना।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण में तुलसीदास ने बाल-लीला की मनोहर झाँकी प्रस्तुत की है।

व्याख्या—नृपति दशरथ के चारों बालक कभी तो चन्द्रमा को माँगने के लिए हठ करने लग जाते हैं तो कभी ग्रपनी परछाईं को देखकर डरने लग जाते हैं। कभी वे हाथों से तालियाँ बजाते हुए नृत्य करने लग जाते हैं। उनकी इस प्रकार की क्रीड़ा को देखकर सभी माताएँ मन में परमानन्दित हो उठती हैं। कभी वे कुपित होकर हठ पकड़-कर किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिए मचल उठते हैं—उस वस्तु को लेकर ही मानते हैं। तुलसीदास यही कामना करते हैं कि ग्रयोध्या नगरी के राजा दशरथ के चारों पुत्र उनके मन-रूपी-मन्दिर में सदा विहार करें।

विशेष—(1) यहाँ बाल-लीला एवं तद्विषयक स्वभाव का वर्णन हुग्रा है।

(2) बाल-स्वभाव में मनोवैज्ञानिकता का समावेश है।

(3) **ग्रलंकार**—स्वाभावोक्ति एवं दीपक।

(5) बर दंतकी पंगति कुंदकली ग्रधराधर-पल्लव खोलन की।
चपला चमकैं घन बीच जगै छबि मोतिन माल ग्रमोलन की॥
घुँघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
नेवछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥5॥

शब्दार्थ—वर—श्रेष्ठ। पंगति—पंक्ति। कुंदकली—कुंद (श्वेत वर्ण का पुष्प) की कली। ग्रधराधर—दोनों ग्रोठ। पल्लव—पत्ते। चपला—विद्युत। घन—मेघ। मोतिन माल—मोतियों की माला। घुँघरारि—घुंघराली। लोल—चंचल। बलि जाऊँ—न्यौछावर होता हूँ। बोलन—बोलना, (तुतलाहट)।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण में तुलसीदास ने राम के बाल-रूप का सुन्दर वर्णन किया है।

व्याख्या—कुंद नामक पुष्प की कलिकाग्रों के समान सुन्दर दाँतों की पंक्ति तथा नये कोमल पत्तों के समान ऊपर-नीचे दोनों ग्रोष्ठों के खोलने पर मैं (तुलसीदास) बलि जाता हूँ। वे मोतियों की माला को धारण किए हैं—जिसकी कांति मेघों में चमकती विद्युत के समान है—ऐसी शोभा पर मैं (तुलसीदास) न्यौछावर होता हूँ। उनके मुख-मण्डल पर घुंघराली लटाएँ लटक रही हैं तथा उनके कपोल प्रदेशों पर कानों में धारण किए हुए हिलते हुए कुंडलों ग्रौर उनकी तोतली बोली पर मैं बलि जाता हूँ। सब प्रकार से तुलसीदासजी उनके इस प्रकार के बाल-रूपमाधुर्य पर ग्रपने प्राणों को न्योछावर करते हैं।

विशेष—(1) यहाँ बाल-रूप राम की दंत-पंक्ति, ग्रधराधर, मोतियों की माला, घुंघराली ग्रलकों तथा चपल कुण्डलों का मनोहर वर्णन हुग्रा है।

(2) भावात्मक तुलना के लिए रामचरितमानस के निम्न ग्रंश देखें—

चिक्कण कच कुंचित समुग्रारे। बहु प्रकार रचि मातु संवारे।
सुन्दर श्रवन सुचारु कपोला। ग्रति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
× × ×
दुई दुई बसन ग्रधर अरुणारे। नासा तिलक को बरनै पारै॥

(3) **ग्रलंकार**—उपमा एवं रूपक।

(6) पदकंजनिं मंजु बनीं पनहीं, धनुहीं सर पंकज-पानि लिएँ।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू-तट चौहट हाट हिएँ॥
तुलसी ग्रस बालक सौं नहिं नेहु कहा जप जोग समाधि किएँ।
नर वे खर सूकर स्वान समान कहौ जग में फलु कौन जिएँ॥6॥

शब्दार्थ—पदकंजनि—कमल-रूपी चरणों में। मंजु—मनोहर। पनहीं—जूतियाँ। धनुही—छोटा (बालानुरूप) धनुष। सर—वाण (सं० शर)। पंकजपानि—कमल-रूपी हाथ। लरिका संग—लड़कों (साथियों) के साथ। सरजूतट—सरयू नामक नदी के किनारे। हाट—बाजार। ग्रस—ऐसा। नेहू—स्नेह, प्रेम। जोग—योग। खर—गधा। सकर—सूग्रर। जग—संसार।

प्रसंग—प्रस्तुत ग्रवतरण में तुलसीदास जी ने बालक राम के क्षत्रियोचित वेश एवं क्रीड़ा-भ्रमण करने के विषय में वर्णन किया है।

व्याख्या—बालक राम कमल के सदृश कोमल चरणों में जूतियाँ धारण किए हुए हैं जो परम मनोहर प्रतीत हो रही हैं। वे ग्रपने कमलरूपी हाथों में धनुष-बाण (बालोचित) धारण किए हुए हैं। वे सरयू नदी के किनारे, चौमुहानियों, बाजारों एवं ग्रपने सेवकों के हृदय में ग्रपने साथियों (बालकों) के साथ खेलते घूम रहे हैं। जिसे ऐसे परम सुन्दर बालक (राम) के प्रति स्नेह नहीं है तो उसे योग, जप एवं समाधि ग्रादि साधनाग्रों के करने से क्या प्राप्त हो सकता है ग्रर्थात् ये सब व्यर्थ ही हैं, ऐसे मनुष्य के जीवित रहने से उसे इस संसार में रहकर भला क्या फल मिल सकता है ?

विशेष—(1) यहाँ बाल-रूप राम के दर्शन को ही भक्त के जीवन का चरम लक्ष्य ग्रभिहित किया गया है।

(2) यहाँ बालक राम के दर्शन को योग, जप तथा समाधि से कहीं उत्कृष्ट बतलाया गया है।

(3) **ग्रलंकार**—स्वाभावोक्ति एवं रूपक।

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा ग्ररु बीर सबै।
धनुहीं कर तीर, निषंग कसैं कटि पीत दुकूल नवीन फबै॥
तुलसी तेहि ग्रौसर लावनिता दस चारि नौ तीन इकीस सबै।
मति भारति पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न पबै॥7॥

शब्दार्थ—तीरहिंतीर—किनारे-किनारे। फिरैं—भ्रमण करना। सखा—मित्र। बीर—भाई। निषंग—तरकश, तूणीर। कटि—कमर। पीत—पीला। दुकल—रेशमी

वस्त्र । फबै—शोभित होना। तेहि—उसी। औसर—अवसर (क्षण)। लावनिता—लावण्य, सौन्दर्य। मति—बुद्धि। भारति—सरस्वती, भारती। पंगु—लंगड़ी अर्थात् असमर्थ। निहारि—देखकर। पवै—प्राप्त होना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में तुलसीदासजी ने बालरूप राम का उनके साथियों तथा भाइयों सहित सरयू के तट पर भ्रमण करने के विषय में वर्णन किया है।

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी अपने सभी भाइयों तथा मित्रों को अपने साथ लिये हुए सरयू नामक नदी के किनारे-किनारे भ्रमण कर रहे हैं। उन सभी के हाथों में छोटे आकार वाले धनुष-बाण हैं, उनके कटि प्रदेश पर तूणीर कसा हुआ है और पीत वर्ण वाला रेशमी वस्त्र बँधा हुआ है, जो परम शोभायमान दृष्टिगोचर हो रहा है। उस समय का वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं कि दस दिग्पालों, कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—इन चारों चतुर्व्यूहियों, ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों देवताओं, ऐश्वर्य सम्बन्धी नौ गुणों, सतोगुणादि तीन गुणों से भी उस अवसर की शोभा उत्कृष्टतर थी। उस समय की शोभा सब प्रकार से इक्कीस अर्थात् बढ़कर थी। उस समय की सुन्दरता को देखकर सरस्वती की बुद्धि भी खोजने पर कोई उपमा नहीं पा सकी, क्योंकि उसकी बुद्धि भी पंगु हो गयी। भाव यह है कि जब सरस्वती देवी की बुद्धि ही उस शोभा का वर्णन करने में असमर्थ हो गयी तो भला तुलीदास उस अवसर की शोभा का वर्णन करने में किस प्रकार समर्थ हो सकता है!

विशेष—(1) प्रयुक्त संख्यावाचक शब्दों के अर्थ के विषय में विद्वज्जन मतैव्य नहीं हैं फलतः उन्होंने अपने-अपने ढंग से अर्थ किया है। 'इक्कीस' शब्द का अर्थ कुछ विद्वानों ने अतिशय बतलाया है। कुछ लोग इसे मुहावरे के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

(2) यहाँ क्षत्रियोचित वेषभूषा का मनोहर वर्णन किया गया है।

(3) भावात्मक तुलना के लिए रामचरितमानस का निम्न अंश देखें—

'करतल बाण धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा।
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥'

(4) **अलंकार**—वीप्सा एवं सम्बन्धातिशयोक्ति।

भूषण

भूषण हिन्दी रीतिकाल के अन्तर्गत, उसकी परम्परा का अनुसरण करते हुए वीर काव्य तथा वीररस की रचना करने वाले प्रसिद्ध कवि हैं। इन्होंने 'शिवराज भूषण' में अपना परिचय देते हुए लिखा है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका गोत्र कश्यप था। ये रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे तथा यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर (तिकवाँपुर) में रहते थे, जहाँ बीरबल का जन्म हुआ था और जहाँ विश्वेश्वर के तुल्य देव-बिहारीश्वर महादेव

हैं। चित्रकूटपति हृदयराम के पुत्र रुद्र सुलंकी ने इन्हें भूषण की उपाधि से विभूषित किया था। तिकवाँपुर कानपुर जिले की घारमपुर तहसील में यमुना के बायें किनारे पर अवस्थित है।

कहा जाता है कि वे चार भाई थे—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ (उपनाम जयशंकर)। भूषण के भ्रातृत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इनके वास्तविक नाम पतिराम अथवा मनीराम होने की कल्पना की है पर यह कोरा अनुमान ही प्रतीत होता है।

भूषण के प्रमुख आश्रयदाता महाराज शिवाजी तथा छत्रसाल बुन्देला थे। इनके नाम से कुछ ऐसे फुटकर छंद मिलते हैं जिनमें साहूजी, बाजीराव, सुलंकी, महाराज जयसिंह, महाराज रानसिंह, अनिरुद्ध, राव बुद्ध, कुमाऊँ-नरेश, गढ़वार-नरेश, औरंगजेब, दाराशाह, (दाराशिकोह) आदि की प्रशंसा की गयी है। ये सभी छन्द भूषण रचित हैं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उक्त सभी राजाओं को भूषण का आश्रयदाता नहीं माना जा सकता। मिश्रबन्धुओं तथा रामचन्द्र शुक्ल ने भूषण का समय 1613-1715 इ० माना है। शिवसिंह सैंगर ने भूषण का जन्म 1681 ई० और ग्रियर्सन ने 1603 ई० लिखा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार भूषण शिवाजी के पौत्र साहू के दरबारी कवि थे। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन विद्वानों का यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः भूषण शिवाजी के ही समकालीन एवं आश्रित थे।

भूषण रचित छह ग्रंथ बताये जाते हैं। इनमें से तीन ग्रन्थ—भूषण हजारा, भूषण उल्लास और दूषण उल्लास अप्राप्य हैं। शेष रचनाएँ हैं—शिवराज भूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल दशक। शिवराज भूषण एक विशालकाय रचना है। इसमें 385 पद्य हैं जिनमें एक ओर तो अलंकारों के लक्षणों का निरूपण हुआ है और दूसरी ओर उन अलंकारों के उदाहरण के रूप में शिवाजी के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन किया गया है। इसकी रचना 29 अप्रैल, 1673 ई०, रविवार को हुई थी। शिवाबावनी में 52 छन्दों में शिवाजी की कीर्ति और 'छत्रसाल दशक' में दस छन्दों मैं छत्रसाल बुन्देला का यशोगान किया है। इन्हीं तीन ग्रन्थों के आधार पर भूषण के काव्य का मूल्यांकन किया जा सकता है।

'शिवराज भूषण' कवि भूषण का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अलंकार ग्रन्थ होने के कारण इसमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं, साथ ही शिवाजी की प्रशंसा भी की गयी है। इसमें महाराज शिवाजी से सम्बन्धित सभी ऐतिहासिक घटनाओं का ओजपूर्ण भाषा में निरूपण हुआ है। साथ ही, तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति का भी विशदता के साथ चित्रण हुआ है। कवि भूषण वीररस के कवि हैं और सम्पूर्ण ग्रन्थ में वीररस का ही प्राधान्य है। भूषण ने अपने काव्य में तत्कालीन समाज की दुरावस्था एवं राजनीतिक स्थिति का चित्रण करने के साथ ही शिवाजी के रायगढ़ जिले का, विविध युद्धों का तथा प्रकृति का भी निरूपण किया है। इनमें से युद्ध वर्णन में तो मार्मिकता और कुशलता के दर्शन होते हैं किन्तु प्रकृति-चित्रण में फूलों के नाम गिना कर ही काम चलाया गया है। उन्होंने प्रकृति का संश्लिष्ट रूप में चित्रण नहीं किया है।

भूषण ने मुख्य रूप से वीररस का निरूपण किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य वीर रस के स्थानीय भाव 'उत्साह' से परिपूर्ण है। वीररस के चारों भेदों—युद्ध वीर, धर्मवीर, दानवीर और दयावीर—का सफलता से चित्रण किया है। युद्धवीर का वर्णन करते हुए भूषण ने छत्रपति शिवाजी के युद्धोत्साह का बड़ी सजीवता और तन्मयता के साथ निरूपण किया है जिसमें वीरों की रणसज्जा, सेना का उत्साहपूर्वक प्रस्थान, युद्धभूमि में शिवाजी का रण-कौशल आदि का वर्णन सम्मिलित है। साथ ही, भूषण ने महत्कार्य का सम्पादन करने वाले शिवाजी के सभी प्रकार के उत्साहों का निरूपण करते हुए वीररस की अत्यधिक मार्मिक अभिव्यंजना की है। साथ ही, अन्य रसों का परिपाक भी भूषण के काव्य में सुन्दर रूप में हुआ है।

भूषण ने अपने समय में प्रचलित साहित्य की सामान्य काव्य-भाषा ब्रज का प्रयोग किया है। इन्होंने विदेशी शब्दों का अधिक प्रयोग मुसलमानों के ही प्रसंग में किया है। दरबार के प्रसंग में भाषा का खड़ा रूप भी दिखलायी पड़ता है। इन्होंने अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द अधिक प्रयुक्त किए हैं; बुन्देलखण्डी, बैसवाड़ी एवं अन्तर्वेदी शब्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भूषण की भाषा का रूप साहित्यिक दृष्टि से बहुत परिष्कृत और ग्राह्य तो नहीं है पर व्यावहारिक दृष्टि से बुरा भी नहीं कहा जा सकता। इनकी कविता में ओज पर्याप्त मात्रा में है। प्रसाद का भी अभाव नहीं है। 'शिवराज भूषण' के आरम्भ के वर्णन और शृंगार के छन्दों में माधुर्य की प्रधानता है।

भूषण ने अलंकारों का प्रयोग मुख्यतया अपने भावों की भंगिमा के लिए किया है। 'शिवराज भूषण' में 105 अलंकारों का प्रयोग हुआ है। जिनमें केवल 5 शब्दालंकार और 100 अर्थालंकार हैं। वास्तव में ये सभी भूषण की कथन-प्रणालियों के द्योतक हैं जिनमें वीर नायक के शौर्य एवं पराक्रम का स्वतन्त्रतापूर्वक वर्णन किया है। भूषण ने उपमा, लुप्तोपमा, उपमेयोपमा, मालोपमा के उदाहरण तो अत्यन्त सुन्दर और सजीव दिये हैं; ऐसे ही रूपक, अनन्वय, प्रतीप, उल्लेख, अपन्हुति, अतिशयोक्ति आदि के भी उदाहरण अत्यन्त मनोहर एवं उपयुक्त हैं। शेष अलंकारों का प्रयोग सामान्य और कहीं-कहीं दोषपूर्ण रहा है। भूषण ने 'सामान्य-विशेष' तथा 'भाविक-छवि' नामक दो नये अलंकार भी माने हैं। 'सामान्य-विशेष' अलंकार विशेष निबंधता ही है और 'भाविक-छवि' कोई पृथक् अलंकार होने ही योग्यता नहीं रखता।

भूषण ने विविध छन्दों का प्रयोग करके अपने भावों को कलात्मक रूप दिया है। भूषण ने अपनी अधिकांश कविता का निर्माण 'मनहरण' कविता में ही किया है परन्तु 'शिवराज भूषण' में मनहरण कविता के अतिरिक्त दोहा, छप्पय, हरिगीतिका, मालती, सवैया, दुर्मिल सवैया, अमृतध्वनि छन्द तथा गीतिका छन्दों का प्रयोग किया है। 'शिवा-बावनी' में मनहरण कवित्त और छप्पय छन्द का प्रयोग हुआ है। 'छत्रसालदशक' में भी मनहरण कवित्तों और एक छप्पय छन्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भूषण ने केवल आठ छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें से सर्वाधिक मनहरण कवित्त और छप्पय को वीर रसानुकूल होने से अपनाया है।

आचार्यत्व की दृष्टि से भूषण को विशिष्ट स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता पर कवित्व के विचार से उनका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह निर्विवाद सत्य है कि भूषण वीर रस के रससिद्ध कवि हैं, वे वीर काव्य के यशस्वी प्रणेता हैं और वीर रस के कवियों के भूषण हैं।

संकलन

(1) बिकट अपार भव पंथ के चले को स्रम
हरन करन बिजना से ब्रह्म ध्याइये।
यहि लोक परलोक सुफल करन कोक
नद से चरन हिए आनि कै जुड़ाइए।
अलि कुल कलित कपोल, ध्यान ललति,
अनंद रूप सरित मैं भूषन अन्हाइए।
पाप तरु भंजन, बिघन गढ़ गंजन,
जगत मनरंजन द्विरदमुख गाइए ॥1॥

शब्दार्थ—भव-पंथ—सांसारिक मार्ग; सांसारिकता। स्रम—श्रम; थकावट। हरन—हरने वाले। करन—पंखों के सदृश्य कान। यहि लोक—संसार। परलोक—स्वर्ग। सफल करन—सिद्ध करने वाले। कोकनद—लाल कमल के समान। जुड़ाइए—शीतल होना। अलिकुल कलित कपोल—भंवरों से विभूषित कपोल। ध्यान ललित—ध्यान करने में सुन्दर। अनन्द रूप सरित—आनन्द रूपी सरिता। अन्हाइए—नहाया जाये। द्विरदमुख—दो दाँत हैं मुख पर जिसके अर्थात् हाथी के मुख वाले—गणेश। गाइए—गाया जाये।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' से अवतरित है। इसमें कवि ने काव्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु गणेशजी की वन्दना की है। यह वन्दना नमस्कारात्मक रूप में हुई है।

व्याख्या—कवि गणेशजी की वन्दना करते हुए कहता है—जिस प्रकार निरन्तर मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति थक जाता है और अपनी थकान को मिटाने के लिए घड़ी-भर बैठकर पंखा झलकर शान्ति प्राप्त करता है और थकान को मिटाता है उसी प्रकार दुविधाओं से घिरे सांसारिक मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति थकान का अनुभव करता है; तब उस श्रम के परिहार के लिए पंखारूपी ब्रह्म का स्मरण करता है और इस प्रकार प्रभु के नामस्मरण मात्र से अपनी सभी सांसारिक बाधाओं से विमुक्ति प्राप्त करता है। गणेशजी के स्मरणमात्र से व्यक्ति अपने को कठिनाइयों से विमुक्त पाता है। श्री गणेशजी के चरण-कमल प्राणिमात्र के लिए इस लोक अर्थात् मृत्युलोक एवं परलोक—स्वर्ग दोनों में ही व्यक्ति को सुख प्रदान करने वाले हैं। उनके चरणों में आकर, शरणागत होकर अपने हृदय को शीतल कर लेना चाहिए। उन गणेशजी के भवरों से विभूषित कपोल हैं, ध्यान करने में सुन्दर हैं, आनन्दरूप सरिता हैं—व्यक्ति को उनके इस रूप का ध्यान कर आनन्द-लाभ करना चाहिए। वह गणेशजी पाप रूपी वृक्ष को नष्ट करने वाले हैं, विघ्नों का विनाश

करने वाले हैं, जगत् का मनोरंजन करने वाले हैं—ऐसे हाथी के मुख वाले गणेशजी का सदा गुणानुवाद करना चाहिए।

विशेष—(1) यहाँ कवि ने गणेशजी की नमस्कारात्मक स्तुति की है।

(2) भाषा सरस एवं प्रवाहपूर्ण है।

(3) अनुप्रास, उपमा, और रूपक अलंकार हैं।

(2) जै जयंति जै आदि सकति जै कालि कपर्दिनि।
जै मधुकैटभ छलनि देवि जै महिष विमर्दिनि।
जै चमुण्ड जै चंड मुंड भंडासुर खंडिनि।
जै सुरक्त जै रक्तबीज बिड्डाल बिहंडिनि।
जै जै निसुंभ सुंभद्दलनि भनि भूषन जै जै भननि।
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि बिजै जै जगजननि ।।2।।

शब्दार्थ—जयन्ति—दुर्गा का नाम विशेष। कपर्दिनि—शिव की पत्नी; भवानी। मधु-कैटभ-छलनि—मधुकैटभ को छल से मारने वाली (मधुकैटभ राक्षसों का संहार तो विष्णु ने किया था पर उनकी मति फेरने वाली योग माया थी। इसी से छलनी कहा है।) चमुण्ड—चमुण्डा देवी का नाम। चण्डमुण्ड—शुंभ-निशुंभ के दूत जो दुर्गा के पास संदेश लेकर गये और मारे गये। खण्डिनि—खण्ड करने वाली; काटने वाली। रक्तबीज बिड्डाल शुंभ-निशुंभ के सेनापतियों के नाम। विहंडनि—खण्ड-खण्ड कर देने वाली। भननि—भंजन करने वाली।

प्रसंग—प्रस्तुत छप्पय छन्द कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इसमें कवि भूषण ने आदिशक्ति भवानी की वन्दना की है। कवि का कथन है—

व्याख्या—हे जयन्ति! हे आदिशक्ति! हे काली! हे भवानी! आपकी जय हो, आपकी जय हो! मधुकैटभ नामक राक्षसों की छल से मारने वाली और महिषासुर का मर्दन करने वाली आपकी जय हो! हे चमुण्डा! आप चण्ड और मुण्ड नामक राक्षसों को खण्ड-खण्ड करने वाली हो। आप सुन्दर गौर वर्ण वाली हो; रक्तबीज और विडालाक्ष को खण्ड-खण्ड करने वाली हो; शुंभ और निशुंभ राक्षसों का दलन करने वाली हे देवी! आपकी जय हो। आप ही वीर शिवाजी को विजय दिलाने वाली जगत्जननि हो, आपकी जय हो, आपकी जय हो।

विशेष—(1) 'जय' के प्रयोग से यह आशीर्वादात्मक मंगलाचरण है।

(2) भाषा ओजगुणपूर्ण है।

(3) अनुप्रास और परिकरांकुर अलंकार है।

(4) छप्पय छंद है।

(3) पावक तुल्य अमीतन को भतो, मीतन को भयो धाम सुधा को।
आनँद भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माँहि बली सिवराज भो भूषन भाषत शत्रु मुधा को।
बंदन तेज त्यों चंदन कीरति सोंधे सिंगार बधू बसुधा को ।।3।।

शब्दार्थ—पावक—अग्नि। अमीतन—शत्रु। धाम—अमृत का घर; चन्द्रमा। भो—हुआ। कुमुदावलि—रात के फूलने वाले कमलों का समूह। तारन—तारों का समूह। मुधा—व्यर्थ। वन्दन—वन्दनीय। कीरति—कीर्ति; यश। बधू—वधू; स्त्री।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से लिया गया है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता शिवाजी की वीरता का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—वीर शिवाजी शत्रुओं के लिए अग्नि के समान जलाने वाले हैं, मित्रों के लिए सदैव चन्द्रमा के समान अमृत के धाम है; सदा ही उनके सहायक रहते हैं और उन्हें जीवन प्रदान करते हैं। वह शिवाजी रूप चन्द्रमा कुमुदावली और ताराओं के लिए अनेक प्रकार से आनन्द का गहरा समुद्र हैं; मित्रों और शरण में आये दुखियों को आश्रय प्रदान करने वाले हैं। महाराज शिवाजी अपनी शक्ति और पराक्रम के लिए सर्वविदित हैं, शत्रु व्यर्थ ही अनेक बारे में अन्यथा कहते हैं, उनका सही रूप प्रस्तुत नहीं करते हैं। उन वीर छत्रपति शिवाजी का तेज-प्रताप बन्दनीय है, उनकी कीर्ति चन्दन के समान है जो वसुधा रूपी वधू का सुगन्धित शृंगार है। कहने का अभिप्राय यह है कि उनकी तेज-प्रताप की कीर्ति पृथ्वी पर चारों ओर फैली हुई है।

विशेष—(1) शिवाजी की वीरता का वर्णन है।

(2) भाषा सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

(3) उपमा अलंकार है।

(4) चंदन मैं नाग, मद भर्यो इंद्र नाग, विष,
भरो सेसनाग कहै उपमा अबस को।
भोर ठहरात न, कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात बात लागे दिसि दस को।
शंभु नीलग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन भूषन सरस को।
छीरधि मैं पंक, कलानिधि मैं कलंक, याते
रूप एक टंक ए लहैं न तब जस को॥4॥

शब्दार्थ—नाग—सर्प; नाग। इन्द्रनाग—इन्हें का हाथी; ऐरावत। अबस—असमर्थ। भोर ठहरात न—उषा काल क्षणिक है। बहरात—उड़ जाता है। बात—वायु। नीलग्रीव—विषकण्ठ। पुण्डरीक—कमल। टंक—टकाभर।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इस पद्य में कवि ने शिवाजी के यश का वर्णन किया है—

व्याख्या—कवि भूषण सृष्टि के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों से शिवाजी के यश को उत्कृष्टतम बताते हुए कहते हैं—चन्दन वृक्षों में नाग लिपटे हुए रहते हैं, इन्द्र के प्रसिद्ध गज-प्रवर ऐरावत में मद भरा हुआ है, शेषनाग विष भरा है; अतः इन व्यर्थ उपमानों से शिवाजी के धवल यश की तुलना कैसे की जा सकती है? और जो सुन्दर एवं आदरणीय

है, जैसे कपूर, किन्तु सुबह होते ही वह उड़ जाता है, शरदऋतु के बादल भी दसों दिशाओं में उठते रहते हैं—स्थायी नहीं हैं। भगवान् शंकर का यश अतुलित है, किन्तु उनका कण्ठ नीला है, कमल को काले भौंरे घेरे हुए रहते हैं, क्षीर सागर कीचड़ युक्त है, चन्द्रमा में दाग है। इस प्रकार कवि भूषण कहते हैं कि विधि ने ऐसी कौन-सी सरस वस्तु का निर्माण किया है जिसकी क्षणभर के लिए भी शिवाजी के यश के साथ तुलना की जा सके।

विशेष—(1) शिवाजी की कीर्ति की प्रशंसा की गयी है।

(2) भाषा ओजगुणपूर्ण और प्रभावी है।

(3) प्रतीप अलंकार है।

(4) मनहरण कवित्त छन्द है।

(5) इंद्र जिम जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
पौन बारिबाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाह पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषन बितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥5॥

शब्दार्थ—जंभ—जंभासुर नामक राक्षस। बाड़व—बड़वाग्नि। **सुअम्भ**—समुद्र। संदभ—अभिमान। पौन—पवन; वायु। वारिवाह—बादल। रतिनाह—कामदेव। राम द्विजराज—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ राम; परशुराम। दावा—जंगल की आग। द्रुम—वृक्ष। बितुंड—हाथी। मृगराज—सिंह। तेज तम अंस पर—अंधकार पर सूर्य। मलिच्छ—म्लेच्छ; मुसलमान। बंस—वंश।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इसमें कवि ने शिवाजी की वीरता और आतंक का चित्रण किया है।

व्याख्या—कवि शिवाजी की वीरता और आतंक का वर्णन करते हुए कहता है—जिस प्रकार जंभासुर पर इन्द्र ने, सागर पर बड़वाग्नि ने और अहंकारी रावण पर रामचन्द्रजी ने विजय प्राप्त की थी, जिस प्रकार वारिवाह अर्थात् बादलों पर वायु, शंभु अर्थात् शंकर ने रतिनाथ कामदेव पर और सहस्रार्जुन पर विप्रराज परशुराम ने विजय पायी थी, जिस प्रकार दावानल वृक्षावलि पर, चीता मृगों के समूह पर और शेर हाथियों पर विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुस्लिम वंश के लिए महाराज शिवाजी कराल काल स्वरूप शेर के समान है।

विशेष—(1) शिवाजी की वीरता और आतंक का चित्रण है।

(2) भाषा ओजगुणोपेत है।

(3) मालोपमा अलंकार है।

(4) मनहरण कवित्त छन्द है।

(6) साहि तनै सिवराज भूषन सुजस तव
बिगिर कलंक चंद उर आनियतु है।
पंचानन एक ही बदन गनि तोहि, गजा-
नन गजबदन बिना बखानियतु है।
एक सीस ही सहससीस कला करिबे को,
दुहूँ दृग सों सहसदृग मानियतु है।
दुहूँ कर सों सहसकर मानियतु तोहि,
दुहूँ बाहु सों सहसबाहु जानियतु है।।6।।

शब्दार्थ—साहि तनै—शाह के पुत्र। भूषन—कवि नाम; आभूषण (सुयशरूपी आभूषण)। तव—तुम्हारा। बिगिर कलंक—कलंक के बगैर। उर आनियतु है—मेरे द्वारा हृदय में ऐसा सोचा जाता है। पंचानन—शिव। गजानन—गणेश। बखानियतु—बखाना जाता है; वर्णन किया जाता है। सहससीस—सहस्र सिर वाले शेषनाग। सहस्र दृग—इन्द्र। सहसकर—सूर्य। सहसबाहु—सहस्रबाहुओं वाला।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इस पद्य में कवि ने शिवाजी का यशोगान किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—हे शाह के पुत्र शिवाजी ! मैं तुम्हारे सुयश रूपी आभूषण का वर्णन क्या करूँ, वह तो निष्कलंक चन्द्रमा के सदृश मेरे हृदय में विद्यमान है। एक ही मुख के रहते हुए तुम्हें शिव गिना जाता है, गज जैसे मुख के बिना तुम्हें गणेश बखाना जाता है; एक सिर रहते हुए सहस्र सिर वाले शेषनाग की भाँति आश्चर्यजनक कार्य करने के लिए समर्थ हो अर्थात् धरती अथवा प्रजा वर्ग का भार उठाने में सक्षम हो; दो ही आँखें रहते हुए तुम्हें सहस्राक्ष—इन्द्र माना जाता है अर्थात् इन्द्र की भाँति ऐश्वर्य और पराक्रमशाली समझा जाता है; दो ही हाथ रहते हुए सहस्रकर अर्थात् सूर्य माना जाता है, तेजवान् माना जाता है; दो ही बाँहों से तुम्हें सहस्रबाहु अर्थात् बलशाली जाना जाता है। इस प्रकार हे शिवाजी ! आप बड़े तेजवान् बलशाली, पराक्रमी हो। आपके यश का वर्णन मैं कहाँ तक करूँ।

विशेष—(1) महाराज शिवाजी के यश का गुणगान किया गया है।
(2) भाषा प्रसाद गुणोपेत एवं प्रभावशाली है।
(3) पुनरुक्ति और रूपक अलंकार है।

(7) तुम सिवराज ब्रजराज अवतार आजु,
तुमही जगत काज पोषत भरत हौ।
तुम्हैं छोड़ि यातै काहि बिनती सुनाऊँ मैं,
तुम्हारे गुन गाऊँ तुम ढीले क्यों परत हौ।
भूषन भनत वहि कुल मैं नयो गुनाह,
नाहक समुझि यह चित्त मैं धरत हौ।
और बाँभनन देखि करत सुदामा सुधि
मोहिं देखि काहे सुधि भृगु की करत हौ।।7।।

शब्दार्थ—ब्रजराज—कृष्ण। काज—कारण; निमित्त। पोषत—पोषण। ढीले—शिथिल; उदासीन। नयौ गुनाह—नया अपराध। नाहक—व्यर्थ। बाँभनन—ब्राह्मणों को। सुदामा सुधि—सुदामा की याद। भृगु—भृगु ऋषि।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने दानशीलता में उदासीन होने पर शिवाजी को उपालम्भ दिया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—हे शिवाजी! आज तुम सम्पूर्ण जगत् में श्रीकृष्ण के अवतार जाने जाते हो; तुम्हीं जगत् के निमित्त भरण और पोषण करते हो फिर तुम आज मेरे प्रति शिथिल एवं उदासीन क्यों पड़ रहे हो। फिर तुम्हीं कहो, तुम्हें छोड़कर मैं और किसके सामने जाकर अपना दुखड़ा रोऊँ, अपनी विनती सुनाऊँ। क्या मुझसे कोई और नया अपराध हो गया है जो व्यर्थ में ही मेरी ओर से आपने अपना चित्त हटा लिया है। मेरे से पृथक् अन्य ब्राह्मणों को देखकर तो आप सुदामा की तरह उनका ध्यान करते हो और जब मेरा ध्यान आता है तो मेरे प्रति भृगु जैसा क्रोध क्यों प्रदर्शित करते हो अर्थात् मुझसे क्यों रुष्ट होते हो। कहने का भाव यह है कि जैसे श्रीकृष्ण ने सुदामा पर कृपा कर उन्हें धन-धान्य से पूर्ण कर दिया था वैसे ही आप भी मेरी सुधि लेकर मेरा कल्याण करो।

विशेष—(1) यहाँ शिवाजी के दानशीलता में उदासीन होने पर कवि ने उपालम्भ दिया है।

(2) भाषा प्रसाद गुणपूर्ण और प्रभावशाली है।

(3) स्मरण अलंकार है।

(8) चमकती चपला न फेरत फिरंगें भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरष समाज को।
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं,
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न गज घटनि सनाह साजे,
भूषन भनत आयो सेन सिवराज को॥8॥

शब्दार्थ—चपला—बिजली। फिरंगै—तलवारें। इन्द्र जाप—इन्द्रधनुष। बैरष समाज—पताकाओं का समूह। धुरवा—बादल। गाजिबो—गर्जन करना। दराज—बड़ी दुंदुभी। भौंसिला—भौंसला वंश में उत्पन्न शिवाजी। उदौ—उदित होना। गज घटनि—हाथियों का समूह। सनाह—झूलें।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरणक वि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने शिवाजी की सेना के आतंक का वर्णन किया है।

व्याख्या—महाराज शिवाजी की अजेय सेना का वर्णन करते हुए कवि भूषण कहते हैं—वर्षा ऋतु को देखकर शत्रुओं की नारियाँ भयग्रस्त होकर कहने लगीं कि यह

बिजली की चमक नहीं है, किन्तु शिवाजी के वीर सैनिकों के खड्ग चमक रहे हैं। यह इन्द्र-धनुष नहीं, किन्तु रंग-बिरंगे वस्त्र धारण किए हुए सैनिकों का समूह है। ग्रासमान में यह बादल नहीं छाये, किन्तु सैनिकों के गमन की वजह से उड़ी हुई धूलि के बादल हैं। यह गर्जना बादलों की नहीं किन्तु रण-दुंदुभी की ध्वनि है। ग्रासमान में बादलों की घटाएँ नहीं, पर हौदों से सजी शिवाजी के हाथियों की पंक्तियाँ हैं। शिवाजी के भय से भयभीत एवं ग्रातंकित शत्रु की पत्नियाँ कहने लगीं कि हे प्रियतम ! यह वर्षा नहीं है, यह तो शिवाजी की सेना का ग्रागमन हो रहा है, ग्रतः प्राण बचाना चाहो तो यहाँ से भाग निकलो।

विशेष—(1) शिवाजी की सेना के ग्रातंक का चित्रण है।

(2) भाषा ग्रोजगुणोपेत एवं प्रभावशाली है।

(3) ग्रपन्हुति ग्रलंकार है।

(9) दुरजनदार भजि भजि बेसम्हार चढ़ीं
उत्तर पहार डरि सिवजी नरिंद ते।
भूषन भनत बिन भूषन बसन, साधे
भूषन पियासन, हैं नाहन को निंदते।
बालक ग्रयाने वाट बीच ही बिलाने, कुम्हि-
लाने मुख कोमल ग्रमल ग्ररबिंद ते।
दृगजल कज्जल कलित बढ्यो-कढ्यो मानो
दूजो सोत तरनितनूजा को कलिंद ते।।9।।

शब्दार्थ—दुरजन—शत्रु। दार—स्त्री। भजि—भागकर। बेसम्हार—वेसंभाल के; ग्रस्त-व्यस्त। उत्तर पहार—हिमालय। भूषन—कवि। भूषन—ग्राभूषण। बसन—वस्त्र। पियासन—प्यासे। नाहन—पत्नियाँ। निंदते—निन्दा करते। ग्रयाने—छोटे। बिलाने—खो गए; नष्ट हो गए। कलित—सुन्दर। बढ्यौ—बहा-बहा। तरनि तनूजा—सूर्य की पुत्री; यमुना। कलिन्द—सूर्य।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से ग्रवतरित है। इसमें कवि ने शिवाजी के भय ग्रौर ग्रातंक का वर्णन किया है।

व्याख्या—शिवाजी के भय ग्रौर ग्रातंक का वर्णन करते हुए कवि कहता है—महाराज छत्रपति शिवाजी के भय से ग्रातंकित होकर शत्रु-पक्ष की नारियाँ ग्रपनी सम्हाल किए बिना ही इधर-उधर भागने का उपक्रम कर रही हैं। कभी वे डरकर पहाड़ पर चढ़ती हैं ग्रौर कभी भागती हैं। भूषण कवि कहते है कि उन नारियों को ग्रपने वस्त्रों ग्रौर ग्राभूषणों की भी सम्हाल नहीं है। भूख ग्रौर प्यास के बिना ही वह प्राणों को साधे हुए हैं ग्रौर ग्रपने पतियों को शिवाजी से बैर करने के कारण बुरा-भला कहती हैं, उनकी निन्दा करती हैं। छोटे-छोटे बच्चे रास्ते में ही खो गए हैं ग्रथवा नष्ट हो गए हैं। उन सबके मुख, जो कमल के समान प्रफुल्लित थे, कुम्हला गए हैं; भय के कारण उनके मुख की कान्ति फीकी पड़ गयी है। उनके काजल युक्त ग्राँखों से ग्रश्रु प्रवाहित हो रहे हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानो सूर्य (कलिन्द) से यमुना का दूसरा प्रवाह निकला हो।

विशेष—(1) प्रस्तुत पद्य में शिवाजी के भय और आतंक का चित्रण है।
(2) भाषा भावानुकूल और प्रवाहपूर्ण है।
(3) उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(10) बासव से बिसरत बिक्रम की कहा चली,
बिक्रम लखत बीर बखत बुलंद के
जागे तेज बृंद सिवा जी नरिंद मसनंद
माल मकरंद कुलचंद साहिनंद के।
भूषन भनत देस देस बैरि नारिन मैं
होत अचरज घर घर दुख दंद के।
कनकलतानि इंदु, इंदु माहिं अरबिंद,
झरैं अरबिंदन तैं बुंद मकरंद के ॥10॥

शब्दार्थ—बासव—इन्द्र। बिसरत—भुला दिए जाते हैं। बिक्रम—विक्रमादित्य। बिक्रम—पराक्रम। बखत—परम भाग्यवान्। मसनन्द—गद्दी (राजगद्दी पर बैठने वाले)। माल मकरन्द—शिवाजी के पूर्वज मालोजी। कुल चन्द—वंश में श्रेष्ठ। साहिनन्द—शाहजी के पुत्र। दन्द—उपद्रव। कनक लतानि—सोने की लता (स्त्रियाँ)। इन्दु—चन्द्रमा (मुख)। मकरन्द—पुष्प रस; आँसू।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने महाराज शिवाजी के विक्रम और आतंक का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि भूषण शिवाजी के विक्रम और आतंक का वर्णन करते हुए कहते हैं—श्रेष्ठ भाग्यवान् और वीर शिवाजी का पराक्रम देखते हुए इन्द्र को भी भुला दिया गया और विक्रमादित्य जैसे महाबलशाली राजाओं की तो कोई बात ही नहीं चली। कहने का भाव यह कि वीर शिवाजी वीरता और पराक्रम में इन्द्र और राजा विक्रमादित्य से अधिक बलशाली हैं। मालोजी के वंश में शाहजी के पुत्र तेजवन्त शिवाजी राज्य-गद्दी पर आसीन हैं, बैठे हैं। भूषण जी कहते हैं कि ऐसे तेजवन्त शिवाजी को लेकर देश-विदेश की शत्रुनारियों के घरों में परस्पर संघर्ष होता है कि ऐसे वीर से विरोध क्यों किया जाए। शिवाजी के वीरतापूर्ण कार्य को देखकर सभी आश्चर्यान्वित होती हैं। शत्रु नारियों के रोने का आलंकारिक वर्णन करते हुए आगे कवि कहता है कि शत्रु-नारियों के स्वर्ण लताओं जैसे शरीर में चन्द्रमा जैसा मुख सुशोभित है और उस चन्द्रमा रूपी मुख में कमल जैसी आँखें शोभित हैं और उन कमल जैसी आँखों से मकरन्द की बूँद रूपी अश्रु-बिन्दु झरते हैं। कहने का भाव यह है कि शिवाजी के पराक्रम से भयभीत होकर शत्रु-पक्ष की नारियाँ रोती और आँसू बहाती हैं।

विशेष—(1) शिवाजी के विक्रम और आतंक का प्रभावशाली चित्रण है।
(2) भाषा में ओजस्व है, प्रभाव डालने में समर्थ है।
(3) **अलंकार**—रूपकातिशयोक्ति।

(11) उद्धत अपार तब दुंदुभी धुकार संग
लंघ पारावार बाल बृंद रिपुगन के।
तेरे चतुरंग के तुरंगन के अंगराज
साथ ही उड़ात रजपुंज हैं परन के।
दच्छिन के नाथ सिवराज तेरे हाथ चढ़ैं
धनुष के साथ गढ़ कोट दुरजन के।
भूषन असीसैं तोहिं, करत कसीसैं पुनि,
बानन के साथ छूटैं प्रान तुरकन के ।।11।।

शब्दार्थ– उद्दत—उद्दण्ड। दुंदुभी धुकार—डंके, नगाड़े की चोट। बालवृन्द—बालक समूह। चतुरंग—चार अंगों वाली सेना। अंगराज—शरीर अथवा टापों से उड़ी धूल। रजपुंज—राजसी तेज, ऐश्वर्य। परन—शत्रुओं। दच्छिन के नाथ—महाराष्ट्र के राजा। हाथ चढ़ैं—हाथ में धारण किए जाते हैं; अधिकार में आते हैं। कसीसैं—खींचने से।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इसमें कवि ने शिवाजी के आतंक का वर्णन किया है। कवि का कथन है—

व्याख्या—हे महाराज शिवाजी ! तुम्हारे युद्ध के नगाड़े और डंके की चोट की असहनीय ध्वनि सुनकर शत्रुओं का समूह, बाल-बच्चे, स्त्री-पुरुष सभी समुद्र को लाँघकर अपने बचने का प्रयत्न करते हैं। तुम्हारी चार अंगों वाली—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना के शरीर और पशुओं के टापों से उड़ने वाली धूल के साथ ही शत्रु-पक्ष के राजाओं का राजसी ठाठ-बाट और ऐश्वर्य-विलास सभी कुछ उड़ गया है। हे महाराष्ट्र के स्वामी ! तूने शत्रुओं के दुर्गों को उनकी समस्त शक्ति के साथ अपने अधिकार में कर लिया है। कवि भूषण आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि तुम्हारे द्वारा बाणों का कर्षण करने के साथ ही तुर्कों के बाण छूट जाते हैं। अर्थात् तुम्हारे बाण छूटते ही शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

विशेष—(1) शिवाजी के आतंक का चित्रण है।
(2) भाषा ओजगुणोपेत एवं प्रभावशाली है।
(3) अक्रमातिशयोक्ति अलंकार है।

(12) मंगन मनोरथ के प्रथमहि दाता तोहिं
कामधेनु कामतरु सो गनाइयतु है।
याते तेरे गुन सब गायको सकत कवि,
बुद्धि अनुसार कछु तऊ गाइयतु है।
भूषन भनत साहि तनै सिवराज निज
बखत बढ़ाय करि तोहि ध्याइयतु है।
दीनता कोडारि औ अधीनता बिडारि दीह
दारिद को मारि तेरे द्वार आइयतु है ।।12।।

शब्दार्थ—मंगन—याचक; भिखारी। मनोरथ—कामना; इच्छा। सो—

समान । गाय को सकत—कौन गान कर सकता है । दीह—दीर्घ । दारिद—दरिद्रता ।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है । इसमें कवि ने महाराज शिवाजी की दानशीलता का वर्णन किया है ।

व्याख्या—कवि भूषण महाराज शिवाजी की दानशीलता का वर्णन करते हुए कहते हैं—हे महाराज शिवाजी ! जो कोई भी याचक अपनी इच्छा-पूर्ति हेतु तुम्हारे दरबार में आता है, तुम कृपा कर उससे माँगने से पूर्व ही उसे सब कुछ दे डालते हो । इस प्रकार तुम साक्षात् प्रजा वर्ग के लिए कामधेनु और कल्पवृक्ष के समान हो । तुम्हारे दान-शीलता से सम्बन्धित गुणों का कौन गान कर सकता है ? जैसा मेरी बुद्धि में आता है उसी के अनुसार मैं कुछ वर्णन करता हूँ—हे शाहजी के पुत्र शिवाजी ! सभी प्रजा वर्ग के लोग और शत्रु-पक्ष के लोग भी तुम्हारे गुणों और उदारता आदि का ध्यान करते हुए अपने भाग का उत्कर्ष करते हैं, अपने भाग्य का निर्माण करते हैं । दीनता को दूर करके अधीनता को नष्ट करके, विकट दारिद्र्य को मारकर जो तेरे द्वार पर याचना करने आता है, तुम उसकी याचना को पूर्ण कर देते हो और इस प्रकार अपनी अमित दानशीलता का परिचय देते हो ।

विशेष—(1) शिवाजी की अमित दानशीलता का वर्णन हुआ है ।

(2) भाषा ओजगुणोपेत एवं प्रभावशाली है ।

(2) अत्यन्तातिशयोक्ति, अनुप्रास अलंकार है ।

(13) गुनन सों इनहूँ को बाँधि लाइयतु पुनि
गुनन सों उनहूँ को बाँधि लाइयतु है ।
पाय गहि इनहूँ को रोज ध्याइयतु अरु
पाय गहि उनहूँ को रोज ध्याइयतु है ।
भूषण भनत महराज सिवराज रस-
रोस तो हिये मैं एक भाँति पाइयतु है ।
दोहाई कहे ते कबि लोग ज्याइयतु अरु
दोहाई कहे ते अरि लोग ज्याइयतु है ॥13॥

शब्दार्थ—गुनन सों—गुणों से । इनहूँ को—इनको भी । गुनन सों—रस्सी, अथवा जंजीरों से । उनहूँ को—उनको भी; शत्रु वर्ग । लाइयतु है—(तू) लाता है । पायगहि—पैर पकड़कर; बन्दी बनाकर । ध्याइयत है—ध्यान रखता है कि छूटकर भाग न जाएँ । रस-रोस—प्रेम और क्रोध । पाइयतु हैं—पाया जाता है । दोहाई—दोहादि काव्य । ज्याइयतु—जिलाता है—पालन करता है । दोहाई—दुहाई; शरण में आने के लिए वाचक शब्द । ज्याइयत है—प्राण बचा (छोड़) देता है ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है । इसमें कवि ने महाराज शिवाजी की वीरता की प्रशंसा की है ।

व्याख्या—कवि भूषण महाराज की वीरता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—हे वीर शिवाजी ! आपने अपने गुणों से न केवल गुणीजनों और विद्वानों को ही अपने पक्ष

में लिया है अपितु अपने बल और पराक्रम से शत्रुओं को भी अपने अधिकार में ले लिया है। आप प्रतिदिन गुणीजनों और विद्वानों को सम्मानित करते हैं तो दूसरी ओर शत्रुओं को बन्दी बनाकर यह ध्यान रखते हैं कि वे भाग न पायें। उनकी पूरी देखभाल और नियन्त्रण रखते हैं। भूषण कवि कहते हैं कि आपके हृदय में प्रेम और क्रोध—दोनों भावों की अवस्थिति सदैव रहती है। जो कविजन दोहा आदि छन्दों में आपकी वीरता और पराक्रम का गुणानुवाद करते हैं, उनके प्रति आप प्रेम प्रदर्शित करते हैं, जो आपका जय-जयकार करते हुए आपकी शरण में आ जाते हैं उन शत्रुओं को आप भययुक्त कर, अपना क्रोध शान्त कर, उनके प्राणों की रक्षा करते हैं।

विशेष—(1) महाराज शिवाजी की वीरता की प्रशस्ति यहाँ हुई है।

(2) भाषा ओजगुणोपेत एवं प्रभावशाली है।

(3) तुल्योगिता एवं यमक अलंकार हैं।

(14) सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके,
भू पर भरत नाम भाई नीति चारु है।
भूषन भनत कुल सूर, कुल भूषन हैं,
दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है।
अरि लंक तोर, जोर जाके संग बान रहें,
सिंधुर हैं बाँधे, जाके दल को न पारु है।
ते गहि कै भेंटें जौन राकस मरद जाने,
सरजा सिवाजी रामही को अवतारु है ॥14॥

शब्दार्थ—सीता-संग—सीता के साथ; ऐश्वर्य के साथ। सुलच्छन—लक्ष्मण; सुलक्षण। भू—पृथ्वी। भरत—भरत, भरण करता है। नीति चारु—सुन्दर श्रेष्ठ नीतियाँ—साम, दाम, दण्ड और भेद। कुल-सूर—सूर्य वंश; वीरों का कुल। दासरथी—दशरथ के पुत्र राम; रथी हैं दास जिनके, वीर जिनके अनुचर हैं—शिवाजी। अरिलंक—शत्रु रावण की लंका; शत्रुओं की कमर। जोर—जोरदार; प्रखर। बान—बाण; स्वभाव। सिन्धुर है—हाथी हैं, सिन्धु रहता है। बाँधे—द्वार पर बँधे हुए; बाँधा है—वश में कर लिया है। ते गहि कै—युद्ध में पकड़कर; तलवार से ही। जो न राकस मरद जानैं—जिस राक्षस को वीर समझते हैं; यवन को राक्षस जैसा वीर समझते हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इसमें कवि ने महाराज शिवाजी की वीरता की प्रशंसा की है। कवि का कथन है—

व्याख्या—महाराज शिवाजी को श्रीराम का अवतार बतलाते हुए कवि कहता है—जिस प्रकार श्रीराम के साथ सीता और लक्ष्मण जी शोभित और सहायक हैं उसी प्रकार महाराज शिवाजी ऐश्वर्य-विलास और शुभ लक्षणों एवं गुणों से युक्त हैं। श्रीराम के नीति-निपुण भरत जैसे भाई हैं, शिवाजी भी दाम, साम, दण्ड और भेद नीति का आश्रय लेते हुए प्रजा का भरण-पोषण करते हैं। श्रीराम सूर्य कुल में उत्पन्न हैं, कुलभूषण हैं,

दशरथ के पुत्र हैं और अपने बाहुओं पर समस्त संसार का भार धारण किए हुए हैं, महाराज शिवाजी भी वीरों के कुल में उत्पन्न हुए हैं। वीरों के भूषण हैं, वीर जिनके अनुचर हैं—ऐसे शिवाजी अपनी भुजाओं पर प्रजा की सुरक्षा का भार उठाए हुए हैं। श्रीराम ने रावण की लंका को विनष्ट किया, उनके बाणों में अद्भुत शक्ति है; जिन्होंने समुद्र को बाँधा और जिनके पास अपार सैन्य शक्ति है उन्हीं श्रीराम के समान महाराज शिवाजी ने भी अपनी शक्ति और अद्भुत पराक्रम से शत्रुओं की कमर तोड़ दी; उन्हें युद्ध में पराजित कर दिया। जिनके साथ बाण रहते हैं, जिनके यहाँ हाथी बंधे रहते हैं उन शिवाजी की सेना अगणित है। श्रीराम अपने दल के लोगों को पकड़कर गले लगाते हैं, राक्षसों को मारना जानते हैं। महाराज शिवाजी भी राम के समान ही युद्ध में शत्रु को पकड़कर तलवार से गले लगाते हैं और प्रजा के शत्रुओं का मर्दन करते हैं। इस प्रकार कवि कहते हैं कि महाराज शिवाजी साक्षात् श्रीराम के ही अवतार जान पड़ते हैं।

विशेष—(1) महाराज शिवाजी की प्रशस्ति की गयी है और उन्हें श्रीराम का अवतार बताया गया है।

(2) भाषा प्रसाद गुणोपेत और प्रवाहपूर्ण है।

(3) श्लेष और अनुप्रास अलंकार हैं।

(15) पीरी पीरी हुन्न तुम देत हौ मँगाय हमैं,
सुबरन हम सों परखि करि लेत हौ।
एक पलही मैं लाख रूखन सों लेत लोग,
तुम राजा ह्वै कै लाख दीबे को सचेत हौ।
भूषण भनत महराज सिवराज बड़े
दानी दुनी ऊपर कहाए केहि हेत हौ।
रीझि हँसि हाथी हमैं सब कोऊ देत कहा,
रीझि हँसि हाथी एक तुमहिये देत हौ ॥15॥

शब्दार्थ—पीली-पीली हुन्न—पीली-पीली मोहरें; सोने की मोहरें। सुबरन—सुवर्ण; सुन्दर वर्ण-काव्य। परखि—जाँच कर। लाख—लाख रुपया। लाखा रुख—रूखे व्यक्ति वृक्ष। दुनी—दुनिया; संसार। रिझि—प्रसन्न होकर। हाथी—गज देना; हाथ मिलाना।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण कवि भूषण द्वारा रचित 'शिवराज भूषण' नामक काव्य से अवतरित है। इस अवतरण में कवि ने महाराज शिवाजी की दानशीलता का वर्णन किया है।

व्याख्या—कवि भूषण प्रस्तुत अवतरण में महाराज शिवाजी की दानशीलता का बखान करते हुए कहते हैं—हे महाराज शिवाजी! आप हमारे सुन्दर काव्य की परख करके पुरस्कार रूप में पीली-पीली सोने की मोहरें अथवा मुद्राएँ मँगाकर देते हो। अन्य राजा लोग तो एक पल में ही आतंक के द्वारा विजितों से लाखों मुद्राएँ ले लेते हैं जैसे वृक्षों से तना छेदकर लाख ली जाती है लेकिन तुम राजा होकर भी अपने याचकों

और कवियों को लाख मुद्रा देने को तत्पर रहते हो। आप संसार के ऊपर सर्वश्रेष्ठ दानी आखिर किस लिए कहे जाते हो ! सर्वश्रेष्ठ इसलिए हो कि क्या हमसे सब कोई प्रसन्न होकर हाथ भी मिलाता है अर्थात् सब तो हमें मात्र वाचिक सम्मान भी नहीं देते जबकि एक तुम्हीं प्रसन्न होकर हमें हाथी दान करते हो। दूसरे शब्दों में, आप महादानी और सहायक हैं।

विशेष—(1) महाराज शिवाजी की दानशीलता का चित्रण है।

(2) भाषा प्रसाद गुणपूर्ण एवं प्रभावी है।

(3) अप्रस्तुत, प्रशंसा, पुनरुक्ति और अनुप्रास अलंकार हैं।

गुरु गोबिन्दसिंह

गुरु गोबिन्दसिंह आदिगुरु नानक देव द्वारा संस्थापित शिष्य (सिक्ख) पंथ के दशम एवं अन्तिम गुरु हैं। उन्होंने स्वयं यह आदेश दिया था कि मेरे बाद केवल 'ग्रन्थ साहिब' को ही गुरु मानकर उसमें बतायी आदर्श बातों के अनुसार चला जाये। क्योंकि उन्होंने अपने जीवनकाल में ही यह देख लिया था कि लोग या उनके अनुयायी गुरु-गद्दियों के लिए लड़ने लगे हैं, उनका दुरुपयोग करने लगे हैं, इसी कारण उन्होंने इस प्रथा के आगे ही विराम-चिह्न लगा दिया था।

इनका जब जन्म हुआ था, तब इनके पिता नवम गुरु तेग बहादुर पूर्वी भारत के असम आदि प्रदेशों की प्रचार-यात्रा पर थे। यात्रा के दौरान गुरु तेग बहादुर जब पटना पहुँचे और अपनी पत्नी के गर्भवती होने का पता चला, तो वे उन्हें उनके भाई कृपालचन्द के पास पटना में ही छोड़ स्वयं संगत के साथ आगे असम की ओर बढ़ गये। वहीं (पटना में) 17 पौष, सम्वत् 1723 (26 दिसम्बर, सन् 1666) के दिन इनका जन्म हुआ। जिस स्थान पर गुरु गोबिन्दसिंह का जन्म हुआ था, वहाँ पटना में आज 'गुरुद्वारा पटना साहिब' विद्यमान है। इनका बचपन का नाम गोबिन्द राय था। बाद में जब हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उन्होने आनन्दपुर साहब में खालसा पन्थ की स्थापना की थी, तब गोबिन्दराय से गोबिन्दसिंह बन गये।

इनके बचपन के आरम्भिक वर्ष पटना में ही व्यतीत हुए थे। पूर्वी भारत की यात्रा समाप्त कर जब गुरु तेग बहादुर ने पंजाब लौटकर हिमाचल के राजाओं से जमीन खरीदकर 'आनन्दपुर' की स्थापना की, तो अपनी पुत्री और एकमात्र पुत्र को वहीं अपने पास बुला लिया। तब बालक गोबिन्दराय की आयु मात्र आठ वर्ष की ही थी। यहाँ आकर अपने महान् एवं सुयोग्य, त्यागी एवं बलिदानी पिता की छत्रछाया में उन्होंने युग की परिस्थितियों को बड़ी गम्भीरता से देखा। फिर मात्र नौ वर्ष की आयु में इन्हें अपने महान् पिता का बलिदान देखने-सुनने का अवसर भी मिला, परिणामस्वरूप छोटी आयु में ही

इनका उदय एक सच्चे सन्त एवं सैनिक के रूप में हो सका। इनकी रचनाओं में भी में इनके सन्त और सिपाही दोनों रूपों के प्रत्यक्ष एवं साकार दर्शन होते हैं।

गुरु गोबिन्दसिंह बड़े दूरदर्शी और विचारवान् थे। उन्होंने यह देखा और अनुभव कर लिया था कि असंगठन के कारण हम लोग मार खा रहे हैं। अतः उन्होंने जाति के संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया। हिन्दू धर्म और जाति की रक्षा के लिए इन्होंने खालसा-पन्थ स्थापित किया। अत्याचारी और अन्यायी मुगल राजनीति को चुनौती दी। यों वे हिन्दू-मुसलमान आदि में या अन्य जातियों-धर्मों में कोई भेद-भाव नहीं करते थे। सभी प्रकार के भेद-भावों के विरोधी थे। भिन्न जातियों और धर्मों के लोगों को लेकर ही इन्होंने 'पाँच प्यारे' और उनके सामने खालसा पंथ साजा था। इनका कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से पंजाब और उत्तर-पूर्वी पहाड़ी प्रदेश ही रहा। पर जब इन्हें युद्धों के कारण आनन्द पुर छोड़ना पड़ा तो यह दक्षिण भारत की ओर चले गये। वहीं पर नाँदेड़ (महाराष्ट्र) नामक स्थान पर मात्र 42 वर्ष की आयु में संवत् 1765 (7 अक्टूबर, सन् 1708) के दिन इनका स्वर्गवास हो गया।

गुरु गोविन्दसिंह परम सुशिक्षित थे। हिन्दी, पंजाबी और फारसी भाषाओं पर इन्हें अधिकार था। प्रायः इन तीनों भाषाओं में इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। 'दशम ग्रन्थ' में इनकी प्रायः सभी प्रकार की रचनाएँ संकलित हैं। इनकी रचनाओं की कुल संख्या 16 स्वीकारी जाती है—उनके नाम हैं—जापु या जाप साहब, अकाल स्तुति, विचित्र नाटक, चण्डी चरित्र—प्रथम और द्वितीय, ज्ञान प्रबोध, चौबीस अवतार, महंदी मीर, ब्रह्मावतार, रुद्रावतार, स्फुट सवैये, शस्त्र नाम माला, चरित्रोपख्यान—ये सभी हिन्दी (व्रज) भाषा में रची गयी हैं। 'वार भगउतीजी की' पंजाबी में रची रचना है, जबकि 'जाफरनामा' और 'हिकायतनाम' फारसी की रचनाएँ हैं। 'सरब लोह प्रकाश' नामक उनकी एक अन्य रचना भी मानी जाती है, पर वह अभी तक उपलब्ध होकर प्रकाशित नहीं हो सकी। प्रायः विद्वान् आलोचक स्वीकार करते हैं कि "इनकी वाणी में ऊँचे दरजे की आध्यात्मिकता, पराकाष्ठा का स्पर्श करती हुई भक्ति-भावना और साथ ही कायर को वीर, महावीर बना देने वाली ओजस्विता के दर्शन होते हैं।"

यह स्वयं तो सिद्धहस्त कवि थे ही, इन्होंने अपने आनन्दपुर दरबार में, कहा जाता है कि लगभग 52 कवियों को आश्रय भी दे रखा था। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि सेनापति भी इनमें से एक थे। कहा जाता कि इन्होंने 52 कवियों की कविताओं का एक विशाल संकलन तैयार किया था, और राजनीतिक कारणों से जब इन्हें आनन्दपुर छोड़ना पड़ा, तो चमकोर नदी को पार करते समय बाढ़ आ जाने के कारण उसकी धारा में बह गया। उनकी वीरता का आदर्श निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है—

"देहु शिवा, वर मोहि इहै शुभ कर्मन तें कबहुं न टरौं।
न डरौं अरि सौं जब जाई लरौं निशचै करि आपुनि-जीत करौं।
अरु सिक्ख हौं आपुन ही मन को, इह लालच हौं गुरु तौ उचरौं।
जब आव की औध निदान बनै अति ही रण में तब जूझि मरौं।।

जहाँ तक इनके काव्यों के वर्ण्य-विषयों का प्रश्न है, वे प्रायः उनके नामों से ही

स्पष्ट हैं। शैली-शिल्प की दृष्टि से इन्होंने प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनों का उचित निर्वाह किया है। 'शस्त्रनाम माला' नामक रचना में कूट शैली का उचित निर्वाह भी देखा जा सकता है। मुख्य भाषा ब्रज है जोकि कहीं-कहीं तो तत्सम-प्रधान होकर संस्कृत ही हो गयी है—

"नमस्तं अकालं, नमस्तं कृपालम् ।
नमस्तं अरूपं, नमस्तं अनूपम् ।
नमो सर्व सोषम्, नमो सर्व पोषम् ।
नमो सर्व कर्ता, नमो सर्व हर्ता ।"

यद्यपि इनकी रचनाओं में भक्ति एवं आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रधानता है और वह वीरत्व के ओजस्वी भाव से भी समन्वित है, तो भी ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से इन्हें रीतिकाल का भक्त और वीर कवि माना जाता है। धारा की दृष्टि से इन्हें सर्वथा रीति मुक्त-धारा का कवि स्वीकार कर सकते हैं। इन्होंने अपने काव्यों में प्रायः पौराणिक विषयों को अपनाकर जातीय गौरव एवं आदर्शों को जागृत करने का सफल प्रयास किया। ईश्वर के ऐसे स्वरूप की परिकल्पना और प्रतिष्ठा इन्होंने की कि जो दुष्ट-नाशक और भक्त-रक्षक है, उसे समय और स्थिति की प्रभावगत विवशता कह सकते हैं। कर्मप्रधान वीर-भाव का पूर्ण प्रभाव और परिपाक भी युगीन प्रभाव के कारण ही इनकी रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है। अन्य रसों का भी व्यापक चित्रण एवं वर्णन देखा जा सकता है। यद्यपि इन्हें हम रीति की परम्परा से सर्वथा मुक्त कवि मानते हैं, फिर भी इन्हें छन्द, अलंकार आदि का पूर्ण एवं पर्याप्त ज्ञान था, यह इनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार हिन्दी काव्य-परम्परा में इनका नाम और महत्त्व अपना उदाहरण आप है।

चंडी चरित्र उक्ति विलास

(1) तारनि लोक, उधारनि भूमिहि, दैत-संहारनि चंडी तुही है।
कारन ईस कला, कमला, हरि अद्रि-सुता जहँ देख उही है।
तामसता ममता नमता कविता कवि के मन मध्य गुही है।
कीनौ है कंचन लोह जगत्त में पारस-मूरति जाई छुही है ॥1॥

शब्दार्थ—तारनि—तारने या उद्धार करने वाली। उधारनि—मुक्ति देने वाली। दैत-संहारनि—दैत्यों या राक्षसों को मारने वाली। चण्डि—चण्डिका देवी। ईस—शिवजी। कला—स्वरूप। कमला—लक्ष्मी। हरि—विष्णु। अद्रिसुता—पर्वत-कन्या, पार्वती। उही है—विद्यमान है। तापसता—तमोगुण, तामसिकता। ममता—मोह। नमता—अधीनता। गुही है—गूँथ दी है। कीनौ है—बना दिया है। कंचन—सोना। लोह—लोहा। पारस—लोहे को स्पर्श से सोना बनाने वाले पारस-पत्थर का रूप। जाई—जिसको। छुही है—छू या स्पर्श कर दिया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति विलास' में से लिया गया है। देवी चण्डिका की वन्दना में रचे गये इस पद्य में कवि ने

उन्हें सभी की उद्धारक बताया है। देवी चण्डिका को पापियों का भी उद्धार करने वाली बताते हुए इस पद्य में कवि कह रहा है—

व्याख्या—हे माँ चण्डि ! तू सारे लोक को तारने वाली और पृथ्वी के सभी प्राणियों का उद्धार करने वाली देवी है। भगवान् शिव की कला अर्थात् स्वरूप में, लक्ष्मी में, भगवान् विष्णु और पर्वत-कन्या देवी पार्वती में भी कारण के रूप में तुम्हीं विद्यमान हो। अर्थात् वे सभी देवी-देवता तेरी ही सत्ता-शक्ति से अनुशासित होते हैं। हे माँ चण्डिके! संसार में विद्यमान तमोगुण, मोह-ममता आदि सांसारिकता के गुणों को अपने अधीन करके, सात्विक भावों के उद्रेक के कारण जन्म लेने वाली कविता को तुम्हीं कृपा करके कवि के मन में गूँथ देती हो—अर्थात् प्रतिष्ठापित कर देती हो। भाव यह है कि तुम्हारे प्रभाव से ही तामसिक वृत्तियाँ समाप्त होकर सत्य गुण प्रधान कविता का उदय या जन्म हुआ करता है। जो कोई भी संसार में पारस-समान माँ चण्डिका की मूर्ति का चरण-स्पर्श कर लेता है, उसका जीवन लोहे से सोना बन जाता है। अर्थात् सांसारिकता के सभी माया-मोह के बन्धनों से मुक्त हो उसका उद्धार हो जाता है।

विशेष—(1) कवि ने देवी की सत्ता को ही समस्त जगत् एवं देवी-देवताओं का भी करण-कारण माना है।

(2) पद्य में उल्लेख, वर्णन और स्वाभावोक्ति अलंकार हैं। अन्त्यानुप्रास भी स्पष्ट है। भाषा ब्रज होते हुए भी पंजाबी की ठस् से प्रभावित है।

(2) त्रास कुटुम्ब के होइ उदास अवास कौं त्यागि बसौ बन राई।
नाम सुरथ्थ मुनीसर वेष समेत समाधि समाधि लगाई।
चंडि अखंड खंडे करि कोप भई सुर-रक्षन कों समुहाई।
बूझह जाइ तिनै तुम साध अगाध कथा किहि भाँति सुनाई ॥2॥

शब्दार्थ—त्रास—डर, भय। अवास—निवास स्थान, घर। बसौ—निवास करता, रहता। राई—राजा। सुरथ्थ—एक राजा का नाम, 'दुर्गासप्तशती' में भी यह नाम आता है। मुनीसर—महामुनि। समाधि—एक वैश्य का नाम। समधि—ध्यान। करि कोप—क्रोध कर। भई—हुई। सुर स्थान—देवताओं की रक्षा के लिए। समुहाई—सामने आई। बूझह—पूछा। जाकर। तिमैं—उन्हें। अगाध—गहरी। किहि भाँति—किस प्रकार की।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति विलास' में से लिया गया है। मेधा नामक तपस्वी ने राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य के पूछने पर देवी चण्डिका द्वारा राजाओं का वध करने की कथा सुनायी थी, इस बात का वर्णन कर देवी चण्डी की वन्दना करते हुए इस पद्य में कविवर गुरु गोबिन्दसिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—अपने घर-परिवार और संसार के झंझटों से उदास-निराश होकर सुरथ नामक राजा वन में जाकर निवास करने लगा। अपने परिवार के आचरण और व्यवहार से दु:खी वहाँ वन में पहले से ही समाधि नामक एक वैश्य भी निवास कर ध्यान आदि लगा रहा था। राजा सुरथ ने भी वहाँ महामुनि जैसा वेश बनाकर समाधि वैश्य के

साथ मिलकर समाधि लगायी अर्थात् ध्यान-मग्न हो गया। ध्यान-मग्न होने पर उसने देखा कि देवी चण्डिका ने क्रोध से भरकर अखंडित बल वाले माने जाने वाले राक्षिसों को खंडित कर दिया—अर्थात् मार डाला है। इस तरह माँ चण्डिका राक्षसों का नाश कर देवताओं की रक्षा करने में तत्पर हो गई है। अपनी समाधियों की अवस्था में वे दोनों (राजा और वैश्य) चकित रह गये। उन दोनों ने वहाँ वास कर रहे साधु—मेधा नामक मुनि के पास जाकर पूछा कि यह (चण्डी द्वारा राक्षसों का वध कर देवताओं की रक्षा करने वाली) गहरी कहानी किस प्रकार की है, हमें सुनाइये। उन्होंने चण्डी देवी की इस महिमा का गायन किया।

विशेष—इस पद्य में राजा सुरथ, समाधि नामक वैश्य और मेधा नामक मुनि की अन्तर्कथा आयी है। 'दुर्गा सप्तशती' के अनुसार इनकी सन्दर्भ-कथा इस प्रकार है-—अपना राज समाप्त हो जाने पर राजा सुरथ घोड़े पर सवार हो शिकार के बहाने घने वन में आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने मेधा नामक एक व्यक्ति का आश्रम देखा। राजा कुछ समय आश्रम में रहे। वहाँ उनकी भेंट समाधि नामक वैश्य से हुई जिसे धन-लोभी परिवारीजनों ने घर से निकाल दिया था। दोनों मन की चंचलता और दुःखों का शमन करने के लिए मेधा मुनि के पास पहुँचे। उन्होंने इनके सामने चण्डी चरित्र की रहस्यमय कहानी का गायन किया था।

(3) युद्ध करौ तिन सौ भगवन्त न मारि सकैं अति दैत बली है।
साल भये तिन पंच हजार दुहू लड़ते नहिं बाँह टली है।
दैतन रिझि कह्यो 'बर माँगि', कह्यौ हरि सीसन देहि भली है।
धारि उरू पर, चक्र सौं काटि कै, जोति लै आपने अंग मली है ॥3॥

शब्दार्थ—तिन सौ—उन (राक्षसों) से। दैत—दैत्य, राक्षस। साल भये—वर्ष बीत गये। तिन—उनको। दुहू—दोनों पक्ष। नहिं बाँह टली—बाहुयुद्ध या मल्लयुद्ध से हटे नहीं। दैतन—राक्षसों, दैत्यों ने। रीझि—प्रसन्न होकर। कह्यौ—कहा। हरि—भगवान् विष्णु। सीसन देहि—सिर दो, मारे जाओ। भली है—उचित है। धारि—धारण कर, रखकर। उरू-पर—जांघ पर। चक्र सों—सुदर्शन चक्र से। काटि—काटकर। जोति लै—प्राण हरकर। अंग मली है—अपने भीतर समाविष्ट कर लिया, अपने में मिला लिया।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति-विलास' में से लिया गया है। मधु और कैटभ नामक दो दैत्यों के भयानक युद्ध और अन्त में योगमाया के प्रभाव से भगवान् विष्णु के हाथों उनके मारे जाने की घटना का वर्णन करते हुए कविवर गुरु गोबिन्दसिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—अपने ही कान की मैल से उत्पन्न मधु और कैटभ नामक राक्षसों से भगवान् विष्णु लगातार भयानक युद्ध करते रहे, पर वे दैत्य इतने बलवान् थे कि भगवान् उन्हें मार नहीं सके। पाँच हजार वर्षों तक दोनों पक्ष लगातार लड़ते-लड़ते थक गये, पर किसी का बाहुबल भी दूसरे को हरा न सका। इस पर योगमाया के प्रभाव से प्रसन्न होकर दैत्यों ने भगवान् विष्णु से कहा कि आपकी वीरता पर हम बहुत प्रसन्न हैं, अतः आप मनचाहा वरदान माँग लो। इस पर भगवान् विष्णु ने कहा—मुझे अपने सिर दे दो—

अर्थात् तुम दोनों मेरे हाथों मारे जाओ। इस पर राक्षसों ने कहा—ठीक है, हम तुम्हारे हाथों ही मरेंगे। तब भगवान् विष्णु ने मधु-कैटभ नामक उन दोनों राक्षसों को अपनी जाँघ पर बिठाकर अपने सुदर्शन चक्र से उन्हें काटकर मार डाला। उनके प्राणों को हर कर अपने तन में ही समा लिया।

विशेष—इस पद्य में आयी अन्तर्कथा इस प्रकार है—युग-प्रलय के समय सारा संसार समुद्र में डूब रहा था। तब भगवान् विष्णु अपनी योगमाया का आश्रय लेकर समुद्र में शेषनाग की शय्या पर सो रहे थे। उस समय उनके कान की मैल से मधु और कैटभ नामक दो भयानक राक्षस उत्पन्न होकर विष्णु की नाभि से निकले कमल पर विराजमान ब्रह्माजी को मारने को तैयार हो गये। डरकर ब्रह्मा ने विष्णु भगवान् को सोते से जागने के लिए उनकी आँखों में नींद बनकर रह रही योगमाया की स्तुति की। नींद से जागकर भगवान् विष्णु उन राक्षसों से युद्ध करने लगे और लगातार पाँच हजार वर्षों तक भयानक युद्ध करते रहे। योगमाया के प्रभाव से मोहग्रस्त हो मधु-कैटभ ने भगवान् विष्णु से कहा—हम तुम्हारी वीरता से प्रसन्न हो तुम्हें वर देना चाहते हैं, जो इच्छा हो, माँग लो। विष्णु भगवान् ने वर माँगा कि तुम लोग मेरे हाथों से ही मारे जाओ। धोखे में आये मधु-कैटभ को जब होश आया, तो वे लोग बोले—जहाँ पृथ्वी पानी में न डूल रही हो, वहाँ पर तुम हमें मार सकते हो। तब भगवान् विष्णु ने उन्हें अपनी जाँघ पर बैठा कर चक्र सुदर्शन से मार डाला। यही कथा इस पद्य में कही गयी है। यह कथा दुर्गा सप्तशती के कई श्लोकों में वर्णित है।

(4) युद्ध करो महिषासुर दानव मारि सबै सुर-सैन गिरायौ।
कै-कै दुटूक दये अरि खेत महा बर-बंड महारण धायौ।
स्रोनित रंग सन्यौ निसरौ जसु या छवि कौ मन मैं इहि आयौ।
मारिकैं छत्रिन कुंड के क्षेत्र में मानहु पैठिकैं रामजू न्हायौ ॥4॥

शब्दार्थ—महिषासुर—भैंसा रूप में एक राक्षस का नाम। दानव—राक्षस। सुर-सैन—देवताओं की सेना। कै-कै—कर-करके। दुटूक—दो टुकड़े। अरि—शत्रु। खेत—युद्ध का मैदान। महा बर-बंड—महान् बलवान। महारण—भयानक युद्ध। धायौ—दौड़ा। स्रोनित—रक्त, खून। रंग मन्यो—रंग में सना या भरा हुआ। निसरौ—निकला। जसु—यश, उपमा। या छवि—इस शोभा, दृश्य। इहि—यह। छत्रिन—क्षत्रियों को। कुण्ड के क्षेत्र में—कुरुक्षेत्र के कुण्ड में। मानहु—मानो। पैठि कैं—प्रवेश करके। रामजू—परशुराम। न्हायौ—नहाकर आये हैं।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति-विलास' में से लिया गया है। महिषासुर नामक राक्षस द्वारा किये गये भयानक युद्ध का वर्णन आलंकारिक भाषा में करते हुए 'चण्डी चरित्र उक्ति-विलास' से लिये गये इस पद्य में गुरु गोबिन्दसिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—महिषासुर नामक राक्षस ने बड़ा ही भयानक युद्ध किया। उसने अपने पराक्रम से देवताओं की सारी विशाल सेना को मारकर गिरा दिया। कुरुक्षेत्र के मैदान

में दौड़-दौड़कर भयानक युद्ध करते हुए उसने शत्रु के दो-दो टुकड़े कर-करके फेंक दिये। खून से लथपथ होकर जब वह (महिषासुर) युद्धभूमि से बाहर निकला, तब वह जिस प्रकार की छवि से युक्त था, उसको देखकर मन में यही आता है कि मानो कुरुक्षेत्र के कुण्ड में प्रवेश कर और क्षत्रियों का संहार कर, नहाए-धोए स्वयं परशुराम जी बाहर निकलकर आये हों। भाव यह है कि महिषासुर राक्षस परशुराम के समान ही वीर और विनाशकारी बलवान् था।

विशेष—पद्य में अन्वय-भेद से उपमा तथा उत्प्रेक्षा दोनों अलंकार हो सकते हैं। पद्य में वीर और भयानक रसों का सुन्दर समन्वय स्पष्ट देखा जा सकता है।

(5) युद्ध कियौ महिषासुर दानव, देखत भानु चलै नहिं पंथा।
स्रोन-समूह चल्यौ लखि कै चतुरानन भूलि गये सब ग्रंथा।
माँस निहारि कैं गिद्ध रड़ैं चटसार पढ़ैं जिमि बालक संथा।
सारसुती-तट लै भट-लोथ श्रृगाल कि सिद्ध बनावत कंथा ॥5॥

शब्दार्थ—दानव—राक्षस। भानु—सूर्य। पंथा—राह पर। स्रोन-समूह—रक्त की धाराएँ। चल्यौ—बहने लगीं। लखि के—देखकर। चतुरानन—ब्रह्मा। निहार कैं—देखकर। रड़ैं—रहते, आवाज करते। चटसार—पाठशाला। जिमि—जिस प्रकार। संथा—पाठ, सबक। सारसुती-तट—सरस्वती नदी का किनारा। ले—लेकर। भट-श्रोथा—योद्धाओं की लाशें। श्रृगाल—गीदड़। सिद्ध—योगी। बनावत कंथा—गूदड़ी बनाते, धारण करते।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति-विलास' में से लिया गया है। 'सप्तशती' के मध्यम चरित्र में वर्णित महिषासुर के मायावी युद्ध की भयानकता का अपने ढंग से वर्णन करते हुए, कविवर गुरु गोबिन्दसिंह इस पद्य में कह रहे हैं—

व्याख्या—महिषासुर नामक राक्षस ने इतना भयानक और मारक युद्ध किया कि उसकी भयानकता से मोहित हो सूर्य भगवान् अपनी राह पर चलना ही भूल गए। वे भी मानो रुककर युद्ध का दृश्य देखने लगे। युद्धभूमि में खून की नदियाँ या अनन्त धाराएँ बहने लगी हैं, यह देखकर ब्रह्माजी वेद आदि ग्रंथों का पाठ करना तक भूल गए। वह भी चकित होकर उस भयानक युद्ध को देखने लगे। ताजे कटे शत्रुओं के शरीरों के मांस के ढेर देखकर मारे प्रसन्नता के गिद्ध आदि मांसाहारी जीव इस प्रकार चिल्लाने लगे मानो पाठशाला में चिल्ला-चिल्लाकर छात्रगण अपना पाठ याद कर रहे हों। इस प्रकार सरस्वती नदी के तट पर वीर योद्धाओं की लाशों को ले जाकर गीदड़ या सिद्ध योगी उन्हें गूदड़ी के समान धारण कर रहे हैं। अर्थात् चारों ओर बड़ा ही भयानक दृश्य उपस्थित होकर सभी को चकित-विस्मित कर रहा है।

विशेष—(1) कवि ने महिषासुर के मायावी युद्ध का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। युद्ध की भयानकता स्पष्ट है।

(2) पद्य में भयानक और वीभत्स रसों का समन्वय देखा जा सकता है।

(3 पद्य में उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और सन्देह अलंकार हैं।

(6) वीर बली सरदार दयैत सु क्रोध कै म्यान तै खड्ग निकारौ।
एक दयौ तन चंडि प्रचंड कै, दूसर केहरि के सिर झारौ।
चंडि सम्हारि तबै बलु धारि लयौ गहि नारि धरा पर मारौ।
ज्यौं धुबिया सरिता-तट जाइकैं लै पट को पट साथ पछारौ ।।6।।

शब्दार्थ—दयैत—दैत्य, राक्षस। खड्ग—तलवार। निकारौ निकाली। एक दयौ—एक वार किया। प्रचण्ड के—प्रचण्डता के साथ, बलपूर्वक। केहरि—शेर, चण्डि का वाहन। झारौ—मारा, प्रहार किया। सम्हारि—सम्हल कर। लयौ गहि नारि—गर्दन पकड़ ली। धरा पर मारौ—धरती पर पटक दिया। ज्यौं—जैसे। धुबिया—धोबी। सरिता-तट—नदी किनारे। जाइके—जाकर। ले—लेकर। पट—वस्त्र। पट—पाटी। पछारौ—पटककर धोता है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्त-विलास' में से लिया गया है। देवी चण्डिका द्वारा राक्षसों को पटक-पटकर मारने के प्रसंग का वर्णन करते हुए गुरु गोविन्दसिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—भयानक युद्ध में राक्षसों के किसी वीर बलवान् सरदार ने गुस्से से भरकर अपनी तलवार निकाल ली। उसने देवी चण्डी के तन पर उस तलवार का एक भरपूर या बलपूर्वक वार किया, दूसरा प्रहार उसने देवी चण्डिका के वाहन शेर के सिर पर किया। इस पर सम्हलकर देवी चण्डिका ने भी बलवर्वक आगे बढ़कर उस राक्षस को गर्दन से पकड़कर धरती पर पटक दिया। उस समय ऐसा लगा, मानो नदी किनारे जाकर किसी धोबी ने कपड़ों को लकड़ी के पाट पर पटक-पटककर धोना आरम्भ कर दिया हो। अर्थात् धोबी पटक-पटक कर कपड़े धोता है, उसी प्रकार देवी चण्डिका राक्षसों को पटक-पटककर मारने लगी।

विशेष—(1) राक्षसों और देवी चण्डिका दोनों के भयावह युद्ध का वर्णन सजीव बन पड़ा है।

(2) 'पट' शब्द का दो बार भिन्न अर्थों में प्रयोग होने के कारण यमक अलंकार है। अन्तिम चरण में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार भी हैं।

(7) भजी चमू महिषासुरी, तकी सरन निज ईस।
धाइ जाइ तिन यौं कहौ, हन्यौ पदम भट बीस ।।7।।

शब्दार्थ—भजी—भागी। चमू—सेना। महिषासुरी—महिषासुर की। तकी—देखी, चाही। निज ईस—अपने स्वामी की। धाइ-जाइ—दौड़ती जाती। तिन—उस सेना ने। हन्यो—मार डाले। पदम—असंख्य संख्या का वाचक शब्द। भट—वीर योद्धा।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति-विलास' में से लिया गया है। देवी चण्डिका के वार से महिषासुर की सेना के पैर उखड़ गये, इस प्रसंग का वर्णन करते हुए कविवर गोबिन्दसिंह इस पद्य में कह रहे हैं—

व्याख्या—देवी चण्डिका ने जब गर्दन से पकड़-पकड़कर राक्षसों को धरती पर पटक-पटकर मारना शुरू किया, तो महिषासुर की सेना घबराकर भाग खड़ी हुई। उसने भागकर अपने स्वामी महिषासुर की शरण ली। भागती आती उस सेना ने अपने स्वामी महिषासुर के सामने चिल्ला-चिल्लाकर कहा कि देवी ने बीस पद्म सेना (असंख्य सेना) को मार डाला है।

विशेष—'पद्म' एक संख्यावाचक शब्द है, जो क्रम से शायद असंख्यता का द्योतक अन्तिम शब्द है।

(8) बैठि तबै गिरिजा अरु देवन बुद्धि इहै मन मध्य बिचारी।
जुद्ध किये बिनु फेर फिरै नहिं भूमि सबै अपनी अवधारी।
इंद्र कह्यौ अब ढीले बने नहिं मातु सुनौ यह बात हमारी।
दैतन के बध काज चली रण चंडि प्रचंड भुजंगिनि कारी॥8॥

शब्दार्थ—बैठि—बैठकर। गिरिजा—पार्वती। अस—और। देवन—देवतागण। इहै—यही। फिर फिरै नहिं भूमि—राज्य वापिस नहीं मिलता। अवधारी—धारणा बनी या बनाई। कह्यो—कहने लगा। ढील बनै नहीं—ढील देने से या शिथिल होने से काम नहीं बनेगा। दैतन—राक्षसों के। वध—हत्या। काज—कार्य के लिए। रण—युद्ध। प्रचंड—भयानक। भुजंगिनीकारी—काली नागिन के समान।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोविन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति विलास' में से लिया गया है। जब शुम्भ और अशुम्भ नामक राक्षसों ने इन्द्र से स्वर्ग का राज्य छीन लिया तब उसे वापिस पाने के लिए देवी-देवताओं की एक सभा जुड़ी। उस सभा और उसके विचार-विमर्श के परिणाम का वर्णन करते हुए कविवर गुरु गोबिन्द सिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—शुम्भ-निशुम्भ नामक बलवान राक्षसों द्वारा इन्द्र का राज्य छीन लेने के बाद पार्वती तथा अन्य सभी देवी-देवता इस समस्या पर विचार करने के लिए एक सभा के रूप में इकट्ठे हुए। सभी ने वहाँ इकट्ठे बैठकर मन और बुद्धि से इस प्रश्न या समस्या पर विचार किया। अब युद्ध के बिना राज्य का उद्धार का अन्य कोई उपाय नहीं, सभी ने एक साथ मिलकर यही धारणा प्रकट की। तब वहाँ उपस्थित इन्द्र ने कहा—हे माता, मेरी बात सुनो। अब और ढील देने से हमारा कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार सबकी सलाह से प्रेरित होकर राक्षसों का वध करने के लिए चण्डिका भयानक बनकर भयानक युद्ध करने के लिए चल पड़ी। उस समय उसकी भयानकता काली नागिन के समान प्रतीत हो रही थी।

विशेष—(1) कवि ने इस पद्य में शुम्भ-निशुम्भ नामक राक्षसों के साथ युद्ध होने का संकेत किया है। उन्होंने इन्द्र का स्वर्ग-राज्य छीन लिया था। उसी को दुबारा प्राप्त करने के लिए देवी चण्डिका को सभी देवों की शक्ति की सहायता से युद्ध कर इन राक्षसों और इनकी सेना का वध करना पड़ा था। इसमें पार्वती ने कालिका या कौशकी बनकर सहायता पहुँचाई थी।

(2) अंतिम पंक्ति में उपमा और अनुप्रास अलंकार हैं।

(9) आयसु पाइकैं दानव को दल चंडि के सामुहैं आइ अरौ है।
ढार औ साँग कृपानन लै कर मैं वर वीरन जुद्ध करौ है।
फेरि फिरैं नहिं आहव तैं मन में तिह धीरज गाढ़ धरौ है।
रोक लई चहुँ ओर तैं चंडि सु भानु मनौ परवेष परौ है ।।9।।

शब्दार्थ--आयसु पाइकै—आज्ञा पाकर। दानव—राक्षस। दल—सेना। सामुहैं—सामने। आइ—आकर। अरौ है—अड़ या डट गया है। ढार—ढाल। साँग—भाला। कृपानन—तलवारें। कर मैं—हाथों में। वर—श्रेष्ठ। फेरि फिरैं नहिं—हटाने पर नहीं हटते। आहव तैं—युद्ध से। तिह—उन्होंने। गाढ़—गहरा, अत्यधिक। परिवेश परौ है—प्रभा-मंडल में घिर गया है।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी-चरित्र उक्ति विलास' में से लिया गया है। देवी-चण्डिका और राक्षस-मण्डली के युद्ध के दृश्य का वर्णन करते हुए कविवर गोबिन्दसिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—अपने स्वामी (शुम्भ-निशुम्भ) की आज्ञा पाकर राक्षसों की सेना के समूह देवी चण्डी के सामने आकर डट गए अर्थात् भयानक युद्ध करने लगे। किसी के हाथ में ढाल थी, किसी के भाला और किसी के हाथ में तलवार, इस प्रकार असंख्य शस्त्रों से सज्जित वे श्रेष्ठ वीर आकर भयानक युद्ध करने लगे। सभी मन में गहरा धीरज धरकर लड़ रहे थे, अतः हटाने की चेष्टा करने पर भी कोई युद्ध से हट नहीं रहा था। उन राक्षसों ने एक बार तो देवीचण्डी को चारों ओर से घेरकर रोक लिया। उस क्षण ऐसा लगता था, मानो सूर्य अपने ही प्रभा या किरण मण्डल से घिर गया हो। भाव यह है कि राक्षसों से घिरी चण्डिका सूर्य के समान तीव्र तेजस्विनी प्रतीत हो रही थी।

विशेष—पद्य में बीर रस है। अन्तिम चरण में उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना अत्यन्त सजीव और प्रभावी बन पड़ी है।

(10) गाजि कै चंडि महाबली मेघ सी बुंदन ज्यौं अरि पै सर डारे।
दामिनि सौं खग लै कर मैं बहुवीर अधंधर कै धर मारे।
धाइत घूमि परे तिह यों उपमा मन मैं कवि ये अनुसारे।
स्रोण-प्रवाह मनो सरिता तिहि मध्य धंसी करि लोथ करारे ।।10।।

शब्दार्थ—गाजि के—गरज के। मेघ-सी—बादल के समान। बुन्दन ज्यों—वर्षा की बूंदों के समान। अरि पै—शत्रु पर। सर डारे—बाण की वर्षा करे। दामिनी—बिजली। सौं—समान। खग—तलवार। लै कर मैं—हाथ में लेकर। अंधधर के—आधे-आधे काटकर। धड़ मारे—धड़ाधड़ मार डाले। धाइत—दौड़ते हुए। घूमि परै—चक्कर खाकर गिरे। तिह—वे, राक्षस। स्रोण-प्रवाह—खून की धारा। सरिता—नदी। तिहि मध्य—उसके बीच। धंसी—घुसी हुई। लोथ करारे—लाशों के किनारे।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोबिन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति

विलास' में से लिया गया है। शुम्भ-निशुम्भ के सहायक, वरदान प्राप्त रक्तबीज नामक राक्षस और उसकी सेना के साथ चण्डिका देवी के हो रहे भयानक युद्ध का वर्णन करते हुए, इस पद्य में कवि कह रहा है—

व्याख्या—अपने सामने रक्तबीज नामक राक्षस और उसकी भयानक सेना को देखकर महा बलवान् बादलों के समान गरज-गरजकर देवी चण्डिका बाणों की वर्षा पानी की बूँदों के समान करने लगी। फिर उसने बिजली के समान चमकती हुई तलवार हाथ में ली और उससे राक्षस वीरों को आधे यानी बीच से काट-काटकर उनके धड़ नीचे गिराने लगी। बहुत सारे राक्षस दौड़ते हुए भी चक्कर खा-खाकर भूमि पर इस प्रकार गिरने-मरने लगे कि जिन्हें देखकर कवि के मन में यह उपमा आने लगती है—मानो खून की धारा तो नदी है, उसके बीच लाशों के किनारे बनाकर देवी धंस या घुसकर शत्रुओं का नाश कर रही है। भयानक युद्ध होने लगा।

विशेष—(1) 'रक्तबीज' नामक राक्षस को वर प्राप्त था कि जहाँ उसके रक्त की बूंद गिरेगी, वहाँ उस जैसा एक और राक्षस पैदा हो जाएगा। उसे मारने के लिए पार्वती ने कालिका का रूप धारण कर अपना मुँह खुला रखा, बूँदें उसमें गिरीं और अन्त में निचुड़कर वह मारा गया।

(2) पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(3) वीभत्स और भयानक रस है।

(11) लै कर मैं असि दारुण काम करे रन मैं अरि सों अरनी है।
सूर चले बलिकै बलवान, सु स्रोण चल्यौ बहि बैतरणी है।
बाँह कटी अधबीच तैं सुंड सी सो उपमा कवि ने सुबरनी है।
आपस मैं लरिकैं सु मनो गिरि तें गिरी सर्प की द्वै घरनी हैं।11॥

शब्दार्थ—असि—तलवार। दारुण—भयानक। अरिसौं—शत्रु से। अरनी हैं—अड़ गई हैं। सूर—शूरवीर। बलि कै—बलिदान करके, मरकर। स्रोण—खून। बैतरणी—पौराणिक नदी। सुँड-सी—सूण्ड के समान। लरिकै—लड़कर। गिरि तैं—पर्वत से। द्वै घरनी—दो घरवालियाँ, नागिनें।

प्रसंग—प्रस्तुत पद्य गुरु गोविन्दसिंह विरचित कविता 'चण्डी चरित्र उक्ति विलास' में से लिया गया है। देवी चण्डी द्वारा राक्षसों के किए जा रहे संहार का वर्णन करते हुए कविवर गुरु गोविन्दसिंह कह रहे हैं—

व्याख्या—हाथ में भयानक तलवार लेकर भयानक शत्रुओं के सामने अड़कर देवी चण्डिका युद्ध कर रही है। उनकी मार से बलवान् शूरवीर बलिदान होने अर्थात् कटकर मरने लगे। वहाँ खून की वैतरणी नदी बहने लगी। राक्षस की बीच से कटी बाहें अधकटी सूँड़-सी लग रही थीं। उसे देखकर कवि को यह उपमा सूझती है कि मानो आपस में लड़ती हुई वे नागिनें कट-मरकर पहाड़ से नीचे आ गिरी हों।

विशेष—(1) पद्य में अनुप्रास, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं।

(2) वैतरणी नदी के बारे में प्रसिद्ध है कि मृत्यु के बाद आत्मा को इसे पार करना पड़ता है।

देव कवि

महाकवि देव इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। विद्वानों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। इनका जन्म सम्वत् 1730 में माना जाता है, क्योंकि 'भावविलास' ग्रंथ का रचनाकाल इन्होंने सम्वत 1746 दिया है और उस ग्रंथ के निर्माण के समय अपनी आयु सोलह वर्ष की बताई है। कहा जाता है कि इनके गुरु गोस्वामी हितहरिवंशजी थे, किन्तु यह मत ठीक नहीं लगता। एक छोटे से जीवन-वृत्त के अतिरिक्त देव का कोई वृत्तान्त नहीं मिलता, हाँ इतना स्पष्ट है कि इन्हें कोई अच्छा आश्रयदाता नहीं मिला। अतः यह बराबर रईसों के यहाँ घूमते रहे। इन्होंने कहीं भी सुख के साथ काल यापन नहीं किया। जान पड़ता है कि अन्तिम समय में इन्हें राजा मोतीलाल का आश्रय मिला, जिनके नाम पर इन्होंने सम्वत् 1783 में 'रसविलास' नामक ग्रंथ की रचना की।

रीतिकाल के सभी कवियों से इन्होंने अधिक ग्रंथों की रचना की है। अब तक 27 ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जो इस प्रकार हैं—(1) भाव विलास, (2) भामिनी विलास, (3) कुशल विलास, (4) जाति विलास, (5) रस विलास, (6) राधिका विलास, (7) पावन-विलास, (8) वृक्ष विलास, (9) अष्टयाम, (10) सुन्दरी सिन्दूर (संग्रह), (11) सुजान विनोद, (12) प्रेम-तरंग, (13) राग रत्नाकर, (14) देव चरित्र, (15) प्रेम चन्द्रिका, (16) काव्य-रसायन, (17) सुख-सागर तरंग (संग्रह), (18) देव माया प्रपंच (नाटक), (19) ब्रह्म दर्शन-पच्चीसी, (20) आत्मदर्शन-पच्चीसी, (21) तत्त्वदर्शन-पच्चीसी, (22) जग-दर्शन पच्चीसी, (23) नीति शतक, (24) नख-शिख, (25) रसानन्द लहरी, (26) प्रेम-दीपिका, (27) सुमिल विनोद। अभी तक इनके चार-पाँच ग्रंथ ही प्रकाशित हुए हैं।

देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सम्मुख आते हैं। कवित्व-शक्ति देव में खूब थी, परन्तु उसके सम्यक् प्रस्फुटन में इनकी रुचि प्रायः बाधक सिद्ध हुई है। अक्षर मैत्री के ध्यान से इन्हें, कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते हैं। तुकान्त और अनुप्रास के लिए वे कहीं-कहीं शब्दों को तोड़ते-मरोड़ते तो थे ही, वाक्य को ही अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत का भाव निर्वाह पूर्ण रूप से हो पाया हो या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी हो, वहाँ रचना अत्यन्त सरस बन पड़ी है। इनका-सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्वेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीति-कालीन कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इस काल के कवियों में इनका नाम विशेष गौरव से लिया जाता है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना अति सूक्ष्म और दूरारूढ़ है।

देव ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, किन्तु अपनी आवश्यकता के अनुसार

शब्दों को खूब तोड़ा-मरोड़ा भी है। इनकी कविता में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का समावेश है। इनकी उक्तियाँ अद्वितीय हैं। कविवर बिहारी के पश्चात् भावाभिव्यक्ति में इन्हीं का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। पं० बालदत्त मिश्र तो इन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे। उन्होंने सुखसागर तरंग के आदि में लिखा है—

सूर-सूर, तुलसी सुधाकर, नक्षत्र केसव,
सेष कविराज को जुगुनू जनायकैं।
दोऊ परिपूरन भगति दरसायौ अब,
क़ाव्यरीति मोसन सुनहुचित लायकैं।
देव नभ मण्डल समान है कबीन मध्य,
जामैं भानु सितभानु तारागन आयकैं।
उदय होत अथवत्, चारों ओर भ्रम पै,
जाकौं ओरछोर नहीं परत लखायकैं।

देव की इस प्रशंसा में अत्युक्ति है। हालाँकि 'हिन्दी-नवरत्न' तथा 'मिश्र बन्धु विनोद' के रचयिताओं का भी कुछ-कुछ ऐसा ही मत है। यह ठीक है कि इनकी कविता सरस, भावपूर्ण एवं ओजस्विनी है किन्तु उसकी अपनी सीमा भी है। सूर और तुलसी से उसकी तुलना करके उन्हें श्रेष्ठ कहना अनुचित है। कुछ दिनों हिन्दी-साहित्य-संसार में इस विषय पर भारी विवाद रहा। देव ने अपनी प्रखर प्रतिभा से पूर्ववती श्रेष्ठ कवियों के कई भाव ज्यों के-त्यों उठाकर अपनी रचनाओं में रख दिए हैं। उनके ग्रंथ सर्वदा अदोष हों, यह नहीं कहा जा सकता है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि देव ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं, किन्तु इनकी कविता का प्रचार अधिक नहीं हुआ। इसका कारण यही हो सकता है कि इनका काव्य प्रायः जटिल-सा है। शब्दों की तोड़-मरोड़ के कारण भाव अव्यवस्थित हैं। गूढ़ोक्तियों के कारण भी इनका काव्य दुर्बोध बन गया है। यह भी संभव है कि शृंगार की बहुलता भी इनके प्रचार में आड़े आई हो, किन्तु फिर भी, इनकी कविता उत्तमता में हीन नहीं है। प्रचार के अभाव के कारण इनका महत्त्व घटता नहीं है। देव जैसे महाकवियों के कारण प्राचीन ब्रजभाषा का मस्तक ऊँचा रहेगा। देव-सदृश सर्वव्यापी दृष्टि वाले कविरत्नों के प्रकाश से साहित्य-संसार सदा जगमगाता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

दर्शन-मिलन

(1) औचक ही चितई भरि लोचन वा रस के बस ह्वै चुकी चेरियै।
मोहक मोहूपै हौं नहीं सूझत बूझत स्याम घने तम घेरियै।
आनंद के मद के नद मैं मनु बूड़ि भयो हद मैं नहिं हेरियै।
कै उलटो सब लोक लगै किधौं देव करी उलटी मति मेरियै ॥1॥

शब्दार्थ—औचक—अचानक। चितई—देखकर। भरि लोचन—आँख भर, जी भरकर। वा—उस, नायक। रस—प्रेम, रंग-रूप। चेरियै—दासी, गुलाम। मोहक

—मोहने वाले। मोहू पै—मुझे ही। हौं—मैं। सूझत—सूझती, देख पाती। बूझत—जान पड़ता है। स्याम घने तम—श्याम रूपी गहरा अंधेरा। घेरियै—घेर लिया। मद—मस्ती। मनु—मानो। बूड़ि भयो—डूब गयी। हद—सीमा, मर्यादा। हेरियै—देख पाती। कै—या तो। किधौं—अथवा, या तो। देव—भाग्य, भगवान्। मति—बुद्धि। मेरियै—मेरी ही।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द कवि देव-रचित 'दर्शन-मिलन' प्रसंग में से लिया गया है। पहली बार में ही नायक को एक दृष्टि से देखकर नायिका मुग्ध और बेबस होकर रह गई है। अपनी इस दशा का वर्णन करते हुए नायिका ने जो कुछ अपनी सहेली से कहा, उसका वर्णन करते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—हे सखि! जैसे ही अचानक मेरी दृष्टि उस नायक पर पड़ी, मैंने उसे आँख भर देखा, उसके प्रेम-रस की, रंग-रूप की दासी बनकर रह गयी। अर्थात् मेरा मन उसके प्रेम और रंग-रूप पर न्यौछावर हो गया। उसके मोहक रूप को देखकर मैं इस कदर बेसुध या मद-मस्त हो गयी कि मुझे मैं ही नहीं सूझ रही थी। अर्थात् अपना तन-मन सब बिसरा बैठी। मुझे ऐसे लगा जैसे श्याम के साँवले रूप रूपी अंधेरे ने मेरी चेतना को, सुध-बुध को पूरी तरह से घेर लिया है। मैं तो बस आनन्द और मस्ती रूपी नदी में डूबकर रह गयी। कोई भी सीमा या मर्यादा का भाव उस समय मेरे सामने नहीं रह गया। अर्थात् घर-परिवार, लोक-लाज आदि की सभी सीमाएँ त्यागकर मैं उसे (नायक या कृष्ण को) देखती ही रह गयी। उस समय या तो मुझे सारा संसार ही उल्टा-पुलटा हुआ लगने लगा था, या फिर देव कवि कहते हैं कि भाग्य ने मेरी बुद्धि ही उल्टी कर दी थी। भाव यह है कि नायक (कृष्ण) के प्रथम दर्शन ने ही मेरे सारे जीवन, तन-मन और बुद्धि को अपने वश में कर लिया है।

विशेष—(1) पद्य में उपमा, रूपक, अनुप्रास अलंकार हैं। अन्तिम पंक्ति में सन्देह अलंकार है।

(2) संयोग-शृंगार का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है।

(3) भाषा सरस और मुहावरेदार है।

(2) पहिले सुनि राख्यौ हो भाख्यौ सखी रस चाख्यो अचानक कानपुटी।
लखि चित्र-चरित्र लख्यो सपने अब तो खिन आँखिन आँखि जुटी।
उमग्यो मनु देव लग्यो पनु सो गुरु बंधुनि की धन रासि लुटी।
कुल कानि की गाठितें छूट्यो हियो हियतें कुल-कानिकी गाँठि छुटी ॥2॥

शब्दार्थ—सुनि राख्यौ—सुन रखा था। भाख्यौ—कहा। रस चाख्यौ—प्रेम रस चखा। कानपुटी—कर्णपुट, कान। लखि—देखकर। लख्यौ—देखा। खिन—क्षण। आँखिन-आँखें जुटी—आँख-से-आँख जुड़ना-लगना। उमग्यौ मनु—मन उमड़ आया। लग्यौ पनु सो—वह प्रेम-प्रण लगा। गुरु—बड़ों। बन्धुनि—रिश्तों-नातों। धन रासि लुटी—मर्यादा रूपी धन का ढेर लुट गया। कुलकानि—वंश-मर्यादा। गाँठि ते—गाँठ या बन्धन से। हियो—हृदय। हियतें—हृदय से।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द कवि देव रचित 'दर्शन-मिलन' प्रसंग से लिया गया है। पहली ही दृष्टि में नायिका के कुल-मर्यादा छोड़कर नायक के प्रेम-बन्धन में फँस जाने की परस्पर चर्चा करती हुई सखियाँ कह रही हैं—

व्याख्या—पहले तो हम लोगों ने मात्र सुन ही रखा था, पर अब तो सखी ने स्वयं कह दिया है कि उसने प्रेम-रस को भली प्रकार चख लिया है। यह बात कानों-कान फैल गयी है। नायक का चित्र देखकर, उसका चरित्र और यश सुनकर, फिर सपने में जो उसे देखकर अब तो प्रत्येक क्षण उसकी आँखों से ही बेचारी नायिका की आँखें जुड़ी या लगी रहती हैं। नायक को देखकर इस (नायिका) का मन कुछ इस प्रकार उमड़ आया है कि अब उसमें मात्र प्रेम का लगाव ही प्रण बन गया है। परिणामस्वरूप उसके गुरुजनों और परिवारजनों का मर्यादा-रूपी धन भी लुट गया है। अर्थात् घर-परिवार का नाम तक बदनाम हो गया है। लगता है कि मर्यादा के हाथ से हृदय और हृदय के हाथ से सारी मर्यादाएँ छूट गयी हैं। अर्थात् नायिका को न तो अब अपने हृदय की चिन्ता है और न कुल-मर्यादा की ही। वह तो अब सभी प्रकार से विवश होकर रह गयी है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम के चारों प्रमुख कारणों—चित्र दर्शन, यश-श्रवण, स्वप्न-दर्शन और प्रत्यक्ष-दर्शन का एक साथ वर्णन किया है।

(2) पद्य में रूपक, काव्यलिंग और अनुप्रास अलंकार हैं।

(3) भाषा सजीव, सरस और मुहावरेदार है।

(3) सारसी सारस हंसिनी हंस, चकोरी चकोर मिले सुख लूटैं।
देव चितै चकई चकवा बिछुरे निसि के बिस घूंट से घूंटैं।
केते कपोत मृगी मृग री युग जीवैं न जो युग योग ते फूटैं।
फूली लता रस के बस दौरत भौंर के भारन डार न टूटैं ॥3॥

शब्दार्थ—चितै—देखकर। बिछुरे—बिछुड़े, अलग हुए। निसि—रात। विस घूंट—जहर के घूंट। घूण्टे—घूट भरते, पीते। केते—कितने। कपोत—कबूतर। मृगी—हिरणी। मृग—हरिण। युग जीवैं—युग-युगों तक जीवित रहें। युग योग ते—दोनों साथ से। फूटैं—बिछुड़ें, अलग हों। दौरत—दौड़ते। भौंर—भँवरे। भारन—भार या बोझ से। डार—डाली।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन-मिलन' प्रसंग से लिया गया है। प्रकृति में प्रेमियों के दाम्पत्य-मिलन को देखकर वियोगिनी नायिका अपनी सखि से कह रही है—

व्याख्या—हे सखि ! जरा प्रकृति के खुले और खिले हुए वातावरण में देखो। सारस-सारसी, हंस-हंसिनी, चकोर-चकोरी आदि पक्षी-युगल आपस में मिलकर प्रेम-सुख को लूट रहे हैं। अर्थात् मिलन के सुख का भोग और अनुभव कर रहे हैं। देव कवि कहते हैं कि देखो, भाग्य के मारे चकवा और चकवी अलग होकर रात में विरह-विष के घूंट भर रहे हैं। प्रिय के विरह में मेरी दशा भी इन्हीं जैसी हो रही है। हे सखि ! कितने ही कबूतर, हिरण-हिरणियाँ हैं, जो अपने जोड़े से अलग होकर युग-युगों तक जीवित रहते हैं। अर्थात् वियोग इन सबको जीवित नहीं रहने देता। चारों ओर लताएँ फूल

रही हैं। उन पर खिले फूलों के रस के वश होकर भौंरे उन पर दौड़ रहे हैं, पर डालियाँ टूटती नहीं। अर्थात् मिलन-रस का आनन्द ही कुछ और होता है। वह किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता।

विशेष—(1) चकवा-चकवी प्राकृतिक नियम से रात को अलग होकर विरह-दुःख भोग करते हैं। नायक से अलग नायिका की स्थिति भी वैसी ही है।

(2) पद्य में उदाहरण, तुलना, अनुप्रास, यमक आदि कई अलंकार हैं।

(4) आपुस मैं रस मैं रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंज बिहारी।
स्यामा सराहति स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी।
एकहि आरसी देखि कहै तिय नीके लगौ पिय प्यौ कहै प्यारी।
देवजू बालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि हौं बलिहारी॥4॥

शब्दार्थ—रसमैं रहसैं—प्रेम में मनोविनोद करते। बहसैं—बहस करते। बनि—बनकर। राधिका—राधा। कुँजबिहारी—श्रीकृष्ण, नायक। स्यामा—राधा, नायिका। सराहति—प्रशंसा करती। पागहि—पगड़ी की। सारी—साड़ी। आरसी—दर्पण। तिय—स्त्री, नायिका। नीके लगौ—बहुत अच्छे लगते हो। प्यौ—प्रिय। देवजू—कवि देव जी। बालम—प्रियतम। बाल—बाला, प्रियतमा। बाद—वार्तालाप। विलोकि—देखकर। भई बलि हौं—मैं बलिहारी गई। बलिहारी—न्यौछावर।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन-मिलन' प्रसंग से लिया गया है। नायक ने नायिका का और नायिका ने नायक का वेष-रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार रूप-बद्ध दोनों को प्रेम-व्यवहार करते देख, एक सखि दूसरी से कह रही है—

व्याख्या—हे सखि, देखो! कुंजबिहारी कृष्ण राधा और राधा कृष्ण बनकर—यानि एक-दूसरे का वेष धारण कर दोनों आपस में प्रेमपूर्वक व्यवहार और बातचीत कर रहे हैं। राधा कृष्ण की पगड़ी की प्रशंसा कर रही है और कृष्ण राधा की साड़ी की प्रशंसा कर रहे हैं। एक ही दर्पण में दोनों साथ-साथ देखकर परस्पर कहते हैं—(राधा कृष्ण से कहती हैं) तुम नारी वेश में बहुत अच्छे लगते हो। इस पर प्रियतम कृष्ण कहते हैं कि तुम भी प्रिय (पुरुष) के वेश में बहुत सुन्दर लग रही हो। कविवर देव कहते हैं कि प्रिय-प्रियतमा (नायक-नायिका या राधा-कृष्ण) की इन बातों को सुनकर मैं तो (सखि कह रही है) इन पर न्यौछावर और बलिहारी हो गयी हूँ।

विशेष—(1) मध्यकाल के नायक-नायिकाओं के हास-विलास का अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है।

(2) अतद्गुण और अनुप्रास अलंकार हैं। पुनरुक्तवदाभास अलंकार भी है।

(5) दूलह को देखत हिए मैं हूल फूल ह्वै,
बनावति दुकूल फूल फूलनि बसति है।
सुनत अनूप रूप नूतन निहारी तनु,
अतनु तुला में तनु तोलति सचति है।

लाज भय मूल न, उघारि भुज मूलन,
अकेली ह्वै नवेली बाल केली में हँसति है।
पहिरति हेरति उतारति धरति देव,
दोउ कर कंचुकी उकासति कसति है ॥5॥

शब्दार्थ—दूलह—नायक, पति। हिए मैं—हृदय में। हूल फूल ह्वै—अत्यधिक अनुरक्त होकर। बनावती—सजाती। दुकूल—रेशमी वस्त्र। फूल-फूलनि —प्रत्येक फूल। बसति—वास करती। अनूप—अनूठा। रूप—सौन्दर्य। नूतन—युवा। निहारि—देखकर। तनु—शरीर। अतनुतुला—कामदेव के तराजू पर। सचति—सचेत, सावधान। मूल न—जरा भी नहीं। उघारि—उघाड़कर, नंगे कर। भुज मूलन—जड़ तक बाँह। नवेली बाल—नवयुवती नायिका। केलि में—काम-क्रीड़ा में, भवन में। पहिरति—पहनती। हेरति—देखती। दोऊ कर—दोनों हाथ। कंचुकी—चोली। उकसाति—ऊपर उठाती।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। नायक को देखकर नायिका का मन मिलन के लिए व्याकुल हो उठा है। वह अनेक प्रकार की काम-चेष्टाएँ करने लगी है। यह सब देख एक सखि उसकी दशा का वर्णन करते हुए दूसरी से कहती है—

व्याख्या—अपने दूल्हे (पति-प्रियतम) को देखते ही हृदय में अत्यधिक मुग्ध और अनुरक्त होकर यह नायिका नायक के स्वागत के लिए नये वस्त्र और आभूषण धारण करके अपने रेशमी दुपट्टे या साड़ी आदि को फूलों से इस प्रकार सजा रही है, मानो प्रत्येक फूल में स्वयं वास कर रही हो। पहले तो यह अपने प्रिय (नायक) के स्वरूप का वर्णन मात्र सुना ही करती थी, पर अब उसके मोहक युवा स्वरूप को देखकर कामदेव रूपी तराजू पर सावधानी के साथ उसके शरीर को तोल लेना चाहती है—अर्थात् कामदेव से सुन्दर नायक के तन का स्पर्श कर अपनी काम-भावना को पूर्ण करने के लिए उतावली हो गयी है। कामोत्तेजना की स्थिति में अब इसके मन में किसी प्रकार की लाज या डर आदि तनिक भी नहीं रह गये। अपनी भुजाएँ उघाड़कर—अर्थात् पूर्ण नग्न कर काम-क्रीड़ा-भवन के द्वार बन्द कर वहाँ अकेली ही हँसती जा रही है। देव कवि कहते हैं कि भावावेश में तो अपनी चोली उतारकर रख देती और कभी फिर पहन अपने स्तनों को दोनों हाथों से उकसाते या ऊपर करते हुए चोली को कसकर बाँधने लगती है।

विशेष—(1) कवि ने प्रौढ़ा नायिका की काम-चेष्टाओं का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है।

(2) पद्य में अनुप्रास, श्लेष और कारक दीपक आदि अलंकार हैं।

(6) आँखिन आँखि लगाए रहै सुनिए धुनि कानन को सुखकारी।
देव रही हिय मैं घरु कै न रुकै निसरै बिसरै न बिसारी।
फूल मैं बासु ज्यों मूल सुबासु को है फल फूलि रही फुलवारी।
प्यारी उज्यारी हिए भरिपूरि है दूरि न जीवनमूरि हमारी ॥6॥

शब्दार्थ—आँखिन-आँखि—आँखों से आँखें। धुनि—स्वर, बोल। कानन को

सुखकारी—कानों में सुख देने वाले। हिय में—हृदय में। घरू के—घर बनाकर। निसरैं निकले। बिसरैं—भूले। बिसारी—भुलाने पर। बासु —सुगन्धि, खुशबू। मूल सुवासु —सुगन्धी का मूल कारण। उज्यारी—रोशनी। हिए भरी पूरि—भरपूर हृदय में। जीवनमूरि—संजीवनी, जीवन का आधार।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। नायिका के प्रति अपना गहरा प्रेम-भाव एक मित्र के सामने प्रकट करते हुए, अनुरक्त नायक कह रहा है—

व्याख्या—हे मित्र ! मेरे प्रेम में विभोर होकर वह(नायिका) हमेशा मेरी आँखों में अपनी आँखें लगाए रहती है—अर्थात् हमेशा मेरी तरफ ही देखती रहती है, जिस कारण हमारी आँखें मिली रहती हैं। मेरे कान भी हर समय उसके मीठे बोल सुनते हुए उसके प्रेम-सुख में मग्न रहा करते हैं। देव कवि कहते हैं कि अब तो उसने मेरे हृदय पर अपना घर बना लिया है—अर्थात् मन-मन्दिर में बस गयी है। वह निकालने पर भी निकलती नहीं बल्कि वहीं रुकी या बसी रहती है। भूलने की चेष्टा करने पर भी मैं उसे भुला पाने में समर्थ नहीं हो पाता। जिस प्रकार फूल में सुगन्धी का निवास रहा करता है, उसी प्रकार उसकी निकटता—मेरे मन में प्रेम की सुगन्ध भर देती है। बस मेरे प्रेम की फुलवारी में अब तो एकदम वही फूल बनकर महक रही है। उस प्रियतमा के रूप और प्रेम-सौन्दर्य का उजाला हमेशा मुझ पर भरपूर रहता है। वह मेरे जीवन की मूल आधार है और संजीवनी बनकर मेरे में नये जीवन की उमंगों का संचार करती रहती है।

विशेष—(1) कवि ने कई प्रकार के मुहावरों का प्रयोग कर प्रेमी के मन की दशा का सजीव वर्णन किया है।

(2) पद्य में उपमा, अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास आदि कई अलंकार हैं। 'न रुके निसरे' पद में दूरान्वय नामक दोष भी है।

(7) रीझि-रीझि, रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठैं,
साँसे भरि, आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि देव,
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई-बई।
दुहुन को रूप गुण दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा-मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई ॥7॥

शब्दार्थ—रीझि—रीझकर। रहसि-रहसि—प्रसन्न होकर। दई-दई—हाय दैया-हाय दैया। चाकि-चाकि—चकित हो-होकर। उचकि—उछलकर। जाकि जाके—स्तम्भित होकर। बई-बई—अलग-अलग। परत—पड़ जाते। दुहुन को—दोनों का। बरनत फिरैं—वर्णन करते फिरते। थिरात—स्थिर रहते, ठहरते। नेह—प्रेम। मोहि —मोहित होकर। भयो—हो गया। मई-मई—मयी, समान।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। राधा कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिका के प्रेम का वर्णन करते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—नायक-नायिका (कृष्ण-राधा) एक-दूसरे पर रीझ और प्रसन्न होकर सहसा बार-बार ठठाकर हँसने लगते हैं। फिर वियोग के क्षणों में दोनों ही एक-दूसरे की याद में आहें भरते और आँसू बहाते हुए 'हाय दैया' कह उठते हैं। बार-बार वे लोग चौंक पड़ते हैं, चकित हो जाते और उछल-उछल पड़ते हैं। स्तम्भित से होकर वे लोग पता नहीं क्या बकने-कहने लगते और फिर अलग पड़ जाते हैं। दोनों एक-दूसरे के प्रेम में विभोर होकर एक-दूसरे के सौन्दर्य और गुणों की जहाँ-तहाँ प्रशंसा करते फिरते हैं। घर पर तो दोनों पल भर के लिए भी ठहर नहीं पाते। बस मिलन के लिए दौड़े आते हैं। इस प्रकार दोनों ही नये प्रेम की रीति का समुचित पालन कर रहे हैं। इस प्रकार मोहित होकर मोहन का मन पूर्णतया राधामय और राधा का मन मोहनमय होकर रह गया है। अर्थात दोनों एक-दूसरे के तन-मन में पूर्णतया समाकर एकमेव हो गए हैं।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम की अनन्यता और तन्मयता का बड़ा ही सजीव, स्वाभाविक एवं प्रभावी वर्णन किया है।

(2) अनुप्रास, वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश और तदगुण अलंकार हैं।

(3) भाषा सजीव और माधुर्य गुण-प्रधान है।

(8) जाके मद मात्यौ सो उमात्यौ ना कहूँ है कोई,
बूड़्यौ उछल्यौ ना तर्‌यौ सोभा सिन्धु सामुहै।
पीवत ही जाहि कोई मर्‌यौ, सो अमर भयौ,
बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख धामु है।
चख के चखक भरि चाखत ही जाहि फिरि
चाख्यौ ना पियूष कछु ऐसो अभिरामु है।
दंपति सरूप ब्रज औतर्‌यौ अनूप सोई
देव कियौ देखि प्रेम रस प्रेम नामु है ॥8॥

शब्दार्थ—जाके—जिसके। मद मात्यौ—मस्ती से मस्त हुए। सो—वह। उमात्यौ—मस्ती रहित हुआ, होश में आया। बूड़्यौ—डूब गया। उछल्यौ न तर्‌यौ—उछला न पार हुआ। सोभा-सिन्धु सामु है—शोभा के सागर में पड़कर। पीवत हो जाहि—जिस (प्रेममय) के पीते ही। भयौ—हो गया। बौरान्यौ—बौराया या पगलाया हुआ। जगत् जान्यौ—जगत् ने समझा। मान्यौ—माना। सुख धामु—सुख का स्थान, घर। चख—नयन। चखक—चषक, प्याले। चाखत ही जाहि—जिसके चखते ही। फिरि चाख्यौ न—फिर चखा नहिं। पियूष—अमृत। अभिराम—आनन्ददायक। दम्पत्तिस्वरूप—पती-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के रूप में। औ तरयौ—अवतार लिया। अनूप—अनूठा, अनुपम। सोई—वही।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। राधा-कृष्ण के रूप में प्रेम-रस और प्रेम के नाम-रूप ने ही अवतार लिया है, यह कहकर प्रेम

की महिमा गाते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—जिस प्रेम की मस्ती में एक बार मस्त हो गए, फिर कोई भी उस प्रेम की मस्ती से रहित नहीं हो सका। अर्थात् एक बार व्यक्ति पर जब प्रेम का रंग चढ़ जाता है, वह फिर कभी उतरता नहीं। प्रेम-सौन्दर्य के सागर में एक बार जो डूब जाता है, वह न तो फिर उछलकर ऊपर ही आ पाता है और न प्रेम रूपी सागर के पार ही जा पाता है। अर्थात् प्रेम का भाव सागर के समान गहरा और अपरम्पार है। इस प्रेम रूपी रस के पीने से यदि कोई मर भी जाता है तो वह अमर हो जाया करता है। संसार के लिए तो प्रेम में मस्त व्यक्ति को बौराया या पगलाया हुआ मान लेते हैं, पर स्वयं प्रेमी के लिए वही सुख का धाम हुआ करता है। प्रेम का रस कुछ इस प्रकार से आनन्ददायक है कि एक बार जो नयनों के चषकों(प्यालों)में भरकर इस रस का पान कर लेता है, एक बार जो इसका स्वाद चख लेता है, फिर उसे अमृत भी अच्छा या स्वादिष्ट नहीं लगता। वही प्रेम राधा और कृष्ण की(प्रेमी-प्रेमिका की)जोड़ी के रूप में ब्रज भूमि पर अवतरित हुआ है। देव कवि कहते हैं कि इन दोनों को देखकर ही प्रेम रस की सृष्टि हुई और 'प्रेम' —यह नामकरण भी सम्भव हो सका। भाव यह है कि राधा-कृष्ण की जोड़ी ही प्रेम का साकार स्वरूप है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम को जीवन का सर्वोच्च सौन्दर्य, सर्वोच्च भाव और सर्वश्रेष्ठ मस्ती का साधन बताया है।

(2) पद्य में उल्लेख, वर्णन विरोध, कारक दीपक और अनुप्रास आदि अलंकारों की छटा देखी जा सकती है।

(9) एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचर मैं।
जासों मनु राचै तासों तनु-मनु राचै, रुचि,
भरिकै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं।
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं।
प्रेम सो कहत कोई ठाकुर न ऐंठौं, सुनि,
बैठौ गड़ि गहिरे तौ पैठौ प्रेम घर मैं ॥9॥

शब्दार्थ—अभिलाख—अभिलाषा, इच्छा। लेखियत—देखी जाती है। देखियत दूसरा—दूसरा दिखायी देता। चराचर—जड़-चेतन। जासौं—जिससे। मनु राचै—मन लग जाता, अनुरक्त हो जाता। तासौं—उसी से। रुचि भरि के उघारि—इच्छा-नुसार खुल के। जाँचे—माँगे। साँचै करि कर में—अपनी सत्यता प्रमाणित कर के। पाँचन के आगे—पंचों के सामने। आँच लागे—कठोर वचन रूपी आँच लगने-सुनने से। साँच देह—सत्यता प्रमाणित करे। सतीं लौं—दक्ष कन्या सती-पार्वती के समान। बैठि सर में—आग की चिता में बैठकर। प्रेम सो कहत—प्रेम से कहते हैं। कोई ठाकुर न ऐंठौं—स्वामित्व का अहंकार न करे। गड़ि—गढ़ का। पैठो—प्रवेश करे।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। स्वकीय और सच्चे प्रेम में छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं होता, गम्भीरता से ही कोई प्रेम के संसार में प्रवेश कर सकता है; इन भावों को प्रकट करते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—प्रेमी अपने मन में एक ही इच्छा को लाखों प्रकार से और रूपों में देखता है। देव कवि कहता है कि वह प्रेम और प्रिय के सिवाय जड़-चेतन संसार में और कुछ भी देखता-समझता नहीं। एक बार उसका मन जिससे रीझ जाता है, वही बात फिर प्रेमी के तन-मन में रच-बस जाया करती है। फिर वह नित्य सच्चे कर्म करके प्रिय के प्रति अपनी सत्यता प्रमाणित किया करता है। वह पूर्ण वेग और उन्मुक्त भाव से अपने प्रिय के भावों को प्राप्त करने, समझने-बूझने में संलग्न रहा करता है। फिर चाहे संसार के पंच अर्थात् गण्यमान्य लोग कटु वचन रूपी आग उगलते रहें, वह अपने प्रेम-पथ से कभी भी वापिस नहीं लौटता। वह तो दक्ष कन्या सती के समान चिता की आग में बैठकर अपनी सच्चाई की परीक्षा देकर अपनी सत्यता को प्रमाणित किया करता है। कवि कहता है कि वास्तविक प्रेम उसी को कहा जाता है, जिसमें स्वामित्व यानि बड़प्पन का अहंकार नहीं रहता। इस प्रकार जो प्रेम की डगर पर गहरी पैठ रखता है, वह प्रेम के घर में प्रवेश पा सकता है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम को उत्कृष्टतम भाव बताया है। यह भी स्पष्ट किया है कि त्याग-बलिदान से ही प्रेम पाया जा सकता है।

(2) पद्य में रूपक, अनुप्रास, वीप्सा और उदाहरण अलंकार हैं। भाषा सजीव, मुहावरेदार, सरस ब्रजभाषा है।

(10) कोकुल या ब्रजगोकुल दो कुल दीप सिखा सी ससी सी रहीं भरि।
त्यौं न तिन्हैं हरि हैरत री रँगराती न जो अँगराती गरे परि।
जो नवला नव इंदु-कला ज्यों लची परै प्रेम रची पिय सों लरि।
भेंटत देखि बिसेखि हिए ब्रजभूभुज देव दुहूँ भुज सों भरि ।।10।।

शब्दार्थ—को कुल—कौन-सा कुल, वंश। दो कुल—कुलभ्रष्ट, ब्रज-गोकुल के दो कुलों में। सिखा—ज्योति। ससी-सी—चन्द्रमा-सी। रहीं भरी—सुन्दरियाँ भरी हुई हैं। हरि—कृष्ण। हैरत—देखते। रंगराती—प्रेम रंग में रंगी। अंगराती—अंगों से प्रेम करने वाली, वासनाप्रिय। गरे-परि—गले पड़ने पर भी। नवल—नवयौवना। नव इन्दु कला—नयी उगी चन्द्रकला। लची परै—झुकी जाती है। पति सो लरि—पति से लड़कर। प्रेम रची—प्रेम में पगी। बिसेखि—विशेषकर। ब्रजभूभुज—ब्रज भूमि के स्वाजी, श्रीकृष्ण।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। इस पद्य में प्रेम के विषय-वासना-रहित सात्विक प्रेम भाव की महिमा गाते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—इस ब्रजभूमि में कौन-सा ऐसा कुल है, जो भ्रष्ट है? अर्थात् कोई भी नहीं। ब्रज और गोकुल के दोनों कुल दीप की शिखा या ज्योति और चन्द्रमा के समान

निष्कलंक एवं उज्ज्वलता से भरे पूरे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उनकी तरफ कभी आँख उठाकर भी नहीं देखते जो प्रेम के सत्य रंग में न रंगी रहकर विलास-वासना के रंग में रंगकर उनके गले पड़ने की चेष्टा करती हैं। भले ही पतियों से लड़कर ही क्यों न आएँ, उन्हीं के प्रेम को कृष्ण अपनाते हैं। ऐसी नवयौवनाओं से बाँहें पसार कर विशेष रूप से ब्रज के स्वामी कृष्ण को भेंट करते या मिलते हुए देखा जा सकता है। भाव यह है कि ब्रजराज कृष्ण उन्हीं को अपनाते हैं, जिनका प्रेमभाव पूर्णतया सात्विक हुआ करता है।

विशेष—(1) कवि ने सात्विक प्रेम को ही श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण एवं भगवान् को रिझाने वाला कहा है।

(2) पद्य में उपमा और अनुप्रास अलंकार हैं।

(11) जीव सों जीवन, जीवन सों धन, सो धन जीवित नाथ निबोधो।
याचित की गति ईठ की ईठी लौं ईठ की डीठि अनीठ लौं सोधो।
वा मनमोहन को वह मोहन सोहन सुन्दर रूप बिरोधो।
या जिय मैं पिय मूरित है पिय मूरति देव सुमूरति कोधो ॥11॥

शब्दार्थ—जीव—प्राण। सो—वह। नाथ—स्वामी। निबोधो—भली प्रकार समझा। याचित—इस चित्त। गति—दशा। ईठ—इष्ट (प्रिय)। ईठी लौं—प्रीति तक। दीठि—दृष्टि। अनीठ—अनिष्ट। सोधो—खोजी है। विरोधो—रुका या अटका हुआ। या जिय में—इस हृदय में। कौ धौ—तरफ है।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। प्रेम-भाव की अनन्यता एवं एकनिष्ठता का प्रतिपादन करते हुए, इस पद्य में कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—प्राणों से ही जीवन हुआ करता है। जीवन से धन होता है। धन वही हुआ करता है जो प्रिय या स्वामी के जीवित रहने का महत्त्व समझे। अर्थात् धन की सार्थकता इसी बात में है कि उसके बल पर प्रिय या स्वामी जीवित रहे। इस चित्त की गति-विधि ही कुछ ऐसी है कि जो अपने प्रिय की दृष्टि की खोज अनिष्ट तक करती है। अर्थात् अनिष्ट में भी प्रिय की दृष्टि की ही इच्छा रखती है। मेरा मन तो उस मोहक रूप वाले सुन्दर, शोभायमान प्रिय (कृष्ण) के रूप में अटककर रह गया है। इस मन में प्रिय की मूर्ति ही समा रही है। प्रिय की मूर्ति का रुख भी देवमूर्ति की तरफ है। अर्थात् मेरा प्रियतम ही मेरे लिए भगवान् एवं उसका साकार स्वरूप है।

विशेष—(1) पद्य में प्रेमभाव की एकनिष्ठता विशेष उल्लेखनीय है।

(2) कारणमाला, अतद्गुण, अनन्वय और अनुप्रास अलंकार हैं।

(12) जेठी बड़ी ते अमेठी सि भौंहनि रूछ महा मन सूछम सीछैं।
देवजू बातनि ही सों हितौति सी सौति सखी सु चितौति तिरीछैं।
लाज की आँचनि या चित राच न नाच नचाई हौं नेह न छीछैं।
चाह भई फिरौं या चित मेरे कि छाँह भई फिरौं नाह के पीछैं ॥12॥

शब्दार्थ—जेठी—जेठानी। बड़ी—बूढ़ियाँ, वृद्धाएँ। अमेठी सि—टेढ़ी-सी। भौंहनि—भौंहों से। रुछ महा—अत्यन्त रूखा। सूछम सीधैं—सूक्ष्म या गम्भीर शिक्षाएँ। बातनि ही सों—बातों से ही। हितौति—हित करती। सौति—सौत। चितौति तिरीछै—तिरछा देखती। लाज की आँचनि—लाज या शर्म की आँच से। या—यह। राच—अनुरक्त। नेह—प्रेम। छीछै फीका, छूँछा। चाह भई—प्रेम हुआ। फिरौं—फिर भी। नाह—नाथ, पति, प्रेमी।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। प्रेम भाव की तीव्रता और गहराई का वर्णन करते हुए इस पद्य में कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—घर में मेरी जेठानी और बड़ी-बूढ़ियाँ भौंहें टेढ़ी करके—अर्थात् डाँट-डपटकर महान् रूखी और सूक्ष्म शिक्षाएँ देती रहती हैं कि प्रेम मत करो। कवि देव कहते हैं कि ये सब मात्र बातों-ही-बातों में मेरा भला करतीं या चाहती हैं। पर वास्तव में सौत के समान बनकर तिरछी दृष्टि से मुझे देखती हैं—अर्थात् मेरा बुरा ही चाहती हैं। मेरा यह चित्त लाज की आँच में अनुरक्त नहीं है—अर्थात् प्रेम में मेरा मन लाज का अनुभव कर वियोग की आग में नहीं जला करता है। न ही छूछे या फीके प्रेम ने ही मुझे किसी प्रकार का नाच नचाया है। अर्थात् मुझे प्रिय से जब सच्चा प्रेम है, तो फिर लाज-शर्म कैसी ? मन में अब जो प्रिय का प्रेम भाव उंग ही आया है, तब किया ही क्या जा सकता है ? अब तो यह मन प्रिय के पीछे छाया बनकर हर समय घूमता रहता है। उसके बिना रह नहीं सकता।

विशेष—(1) कवि ने प्रेमानुरक्ति का बड़ा गहरा वर्णन किया है। प्रेम को संसार से निराला और अपनी इच्छाओं का स्वामी बताया है।

(2) अनुप्रास और वर्णन अलंकार हैं। भाषा में स्निग्धता और मुहावरों का प्रयोग विशेष दर्शनीय है।

(13) देखे न परत देव देखिबे की परी बानि,
देखि-देखि दूनी दिख साध उंपजति है।
सरद उदित इंदु बिंदु सो लगत, लेखे,
मुदित मुखारबिंद इंदिरा लजति है।
अद्भुत ऊख सी पियूष सी मधुर बानि,
सुनि-सुनि स्रवनन भूख सी भजति है।
मंत्री कह्यौ मैन, परतंत्री कह्यो नैनन को,
बिना तार तंत्री जीभ जंत्री सी बजति है ॥13॥

शब्दार्थ—देखे न परत—देखा नहीं जाता। देखि बे की—देखने की। परी बानि—आदत पड़ गयी है। दूनी—दुगुनी। दिख साध—देखने की इच्छा। उपजति है—उत्पन्न होती है। उदित—उगा हुआ। इंदु—चन्द्रमा। लेखे—देखकर। मुदित—प्रसन्न। मुखारिविन्द—मुख रूपी कमल। इंदिरा—लक्ष्मी। लजाति है—लज्जित हो जाती है। ऊख-सी—गन्ने के रस के समान। पीयूष-सी—अमृत के समान। स्रवनन—

कानों की। भजति—भागती, समाप्त होती। मैंन—कामदेव। परतंत्री—पराधीन। जंत्री-सी—वाद्य यंत्र के समान।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। अनिंद्य सुन्दरी नायिका के स्वरूप-सौन्दर्य एवं नायक के उसके प्रति प्रेमभाव को प्रकट करते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—यद्यपि उस सुन्दरी नायिका की ओर देखते तो नहीं बनता फिर भी उसके सौन्दर्य को देखने की आदत-सी पड़ गई है। जैसे-जैसे नायक उसके रूप-सौन्दर्य को देखता है, उसके मन में देखते रहने की इच्छा स्वयमेव दुगुनी होती जाती है। उसके सौन्दर्य के सामने शरद् ऋतु का चन्द्रमा भी एक बूँद-सा प्रतीत होता है। उसके कमल के समान खिले हुए मुख को देखकर लक्ष्मी भी लज्जित हो जाती है। अर्थात् उस नायिका का रूप-सौन्दर्य लक्ष्मी को भी मात देने वाला है। उसके मुख से निकलने वाली वाणी बड़ी ही अनोखी, गन्ने के रस और अमृत के समान मधुर होती है। उस वाणी को सुन-सुनकर कानों की भूख भाग जाती है—अर्थात् और कुछ भी सुनने की इच्छा बाकी नहीं रह जाती। उसके सौन्दर्य को देखकर लगता है जैसे कामदेव उसका मन्त्री हो गया है। उसके नयनों ने सभी को अधीन कर लिया है। उसकी मधुर जीभ बिना तारों के भी वीणा के समान बजती है—अर्थात् उसका स्वर संगीतवत् मधुर-मोहक है।

विशेष—(1) कवि ने नायिका के सौन्दर्य का पारदर्शी एवं मोहक वर्णन किया है।

(2) पद्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, वीप्सा, अनुप्रास और असंगति अलंकार हैं।

(14) कठिन कुठाट काठ कुंठित कुठार कूट,
रूठि हठ कोठरी कपाट कपटन की।
चीकनी सुहाग नेह हेम की सराँग पर,
प्रेम पाउ परत न राह रपटन की।
बरतनु बरत उबारिए सुरत बारि,
वारियै न बिरह बयारि झपटन की।
देवजू बिदेह दाह देह दहकति आवै,
आँचल-पटनि ओट आँच लपटन की ॥14॥

शब्दार्थ—कुठाट—गढ़ने में कठोर। काठ—लकड़ी। कुठित कुठार—कूट, कुल्हाड़ों के समूह कुण्ठित हो गए। रुठि हठ कोठरी कपाट-कपटन—रूठने, हठ करने रूपी कोठरी के किवाड़। नेह—प्रेम। हेम—सोना। सरांग—सुहाग। प्रेम पाउ—प्रेम के पाँव। रपटन—फिसलन। वर तनु—सुन्दर शरीर। बरत—जलता है। उबारिये—उद्धार कीजिए। सुरत बारि—स्मरण रूपी जल। वारियै न—निवारण कीजिए न। बयारि—बैरिन। झपटन को—झपटों को। विदेह दाह—काम-वासना की आग। दहकति—सुलगती। आँचल-पटनि ओट—अंचल के वस्त्र की ओट। आँच—सेंक। लपटन की—आग की लपटों का।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। नायक नायिका से रूठ गया है। वह न बोलने के हठ पर अड़ गया है। तब विरहिणी नायिका की सहेली नायक के पास आकर उसकी दशा का वर्णन करते हुए कह रही है—

व्याख्या—काठ के समान कठोर और कुँठल कुल्हाड़े के समान तीक्ष्ण रूठने के हठ रूपी कपाट जो तुमने लगा लिये हैं—अर्थात् कठोर बनकर उस बेचारी (नायिका) से रूठ गये हो। प्रेमरूपी सोने की सराँग पर चिकनाहट आ गयी है, अतः प्रेम के पाँव जम नहीं पा रहे बल्कि रपट या फिसल पड़ने का भय बना हुआ है। अर्थात् वह बेचारी तुम्हारे इस प्रेम में रपटीले व्यवहार से बहुत ही दुःखी एवं पीड़ित है। अतः अब आप स्मरण रूपी जल छिड़ककर उसके सुन्दर शरीर को विरह की आग में जल जाने से बचा लीजिए। कविवर देव कहते हैं कि कामवासना की आग से उसका शरीर हर क्षण दहकता रहता है। अंचल के वस्त्रों की ओट में भी विरहाग्नि की लपटें हमेशा उठती रहती हैं। भाव यह है कि नायक के कठोर व्यवहार ने नायिका की विरह ने बड़ी ही दुर्दशा कर दी है। नायक ही उसे बचा सकता है।

विशेष—(1) विरह की पराकाष्ठा एवं ताप का कवि ने रीतिकाल की परम्परा के अनुसार ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

(2) पद्य में रूपकात्मक योजना के साथ-साथ अनुप्रास और विशेषोक्ति अलंकारों की छटा भी दर्शनीय है।

(15) पीछे तिरीछे कटाच्छन सों इत वै चितवैं री लला ललचोहैं।
चौगुनो चाउ चबायनि के चित चाह चढ़े हैं चबाउ मचो है।
जोबन आयो न पाप लग्यो कवि देव रहैं गुरुलोग रिसोहैं।
जी मैं लजैए जु जैए कहूँ, तित पैए कलंक चितैए जु सोहैं ॥15॥

शब्दार्थ—तिरीछै—तिरछा। कटाच्छन सौं—कटाक्ष से। इत—इधर। वै—और। चिवैं—देखते। लला—नायक। ललचोहैं—ललचाने वाली नजर से। चाउ—चाव। चबायनि—निन्दक, निन्दा करने वाले। चाह चढ़े हैं—प्रेम करने लगे हैं। चवाउ मचौ है—चर्चा चली है, निन्दा होने लगी है। गुरु लोग—बड़े लोग। रिसो हैं—नाराज रहते, क्रोध करते। जी मैं—हृदय में। लजैए—लज्जित हुए। जु जैए—यदि जाया जाए। पैए—पाइये। चितैए-जु—यदि देखें। सोहैं—सामने। तित—तब, वहाँ।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। प्रेम निन्दा का कारण बन गया है। एक मध्या नायिका अपने प्रेम की विवशता का वर्णन करते हुए यही बात अपनी सहेली से कह रही है—

व्याख्या—हे सखि ! पीछे की तरफ घूम तिरछी कटाक्ष भरी दृष्टि से प्रेम को ललचा रहे नातक ने जैसे ही मेरी तरफ देखा, बस फिर क्या था। निन्दा और चर्चा करने वालों का चाव चौगुना हो गया। ये दोनों प्रेम करते हैं, ऐसा कहकर वे लोग चारों ओर चर्चा और निन्दा करने लगे हैं। यह यौवन क्या आ गया, एक प्रकार का पाप ही हो गया है, जोकि अब घर-परिवार के सभी बड़े-बूढ़े भी क्रोध करने लगे हैं। अर्थात् प्रेम

करने से रोकने की चेष्टा करगे लगे हैं। अगर कहीं भी जाएँ और सामने नजर उठाकर देख भी लें, तो कलंकित होकर मन में लज्जित होना पड़ता है। भाव यह है कि हमारी प्रत्येक दृष्टि और कार्य पर नजर रखी जाती है। अतः लोगों के व्यवहार से नाहक ही लज्जित होने को बाध्य होना पड़ता है।

विशेष—(1) प्रेम और प्रेमियों के सम्बन्ध में घर-परिवार के बड़े-बूढ़ों और ग्राम लोगों की प्रतिक्रिया का, प्रेमियों की स्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया गया है।

(2) अनुप्रास, वर्णन, उल्लेख और स्वभावोक्ति अलंकार हैं।

(16) पीर सही घर ही में रही कवि देव दियो नहि दूतिन को दुख।
काहुकि बात कही न सुनी, मनु मारि बिसारि दियो सिगरो सुख।
भीर मैं भूलि कहूँ सखि मैं जब ते ब्रजराज कि ओर कियो रुख।
मोहि भटू तब ते निसि दौस चितौत ही जात चबाइन के मुख ।।16।।

शब्दार्थ—पीर—विरह वेदना। दियो नहीं दूतिन को दुख—दूतियों को कष्ट नहीं दिया, सन्देश तक नहीं भेजा। काहु कि—किसी की। मनु मारि—मन मारकर। बिसारि—भुला। सिगरौ—सारा। भूलि—भूल से। कियौ रुख—रुख किया, उन्मुख हुई, देखा। मोहि—मुझे। भटू—सखी। निसि दोस—रात-दिन। चितौत—देखते ही जाता। चबाइन—निन्दक।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। बेचारी नायिका ने एक बार नजर उठाकर नायक की तरफ देख क्या लिया कि चारों ओर चर्चा एवं निन्दा होने लगी। अपनी निन्दा के इसी दुःख को एक सहेली के सामने प्रकट करती हुई मध्या नायिका कह रही है—

व्याख्या—हे सखि! मैं प्रिय-विरह की पीड़ा सहन करती हुई हमेशा अपने घर-परिवार के बीच ही बनी रहती हूँ। मैंने कभी किसी दूती को भी कष्ट नहीं दिया। अर्थात् दूती के हाथों अपने प्रिय (नायक) के पास या नायक की बात तक भी कही-सुनी नहीं। बस, मन मारकर प्रिय-मिलन के सभी सुखों को भुला दिया। पर एक दिन भीड़ में जब अचानक मैंने ब्रजराज (नायक) की ओर भूल से देख क्या लिया, बस, तभी मुझे अब रात-दिन अपने निन्दकों का मुख देखते रहना पड़ता है—अर्थात् निन्दा करने वाले रात-दिन व्यर्थ ही मेरी निन्दा करते रहते हैं। मुझे विवश होकर उनकी सभी प्रकार की बे-सिर-पैर की बातें सुननी पड़ती हैं।

विशेष—(1) प्रेम और प्रेमियों के सम्बन्ध में लोक-समाज की मानसिकता का चित्रण यथार्थ एवं स्वाभाविक बन पड़ा है।

(2) पद्य में अनुक्रम, अनुप्रास और स्वभावोक्ति अलंकार हैं। भाषा भावना एवं विषय के अनुरूप माधुर्य गुण से पूर्ण है।

(17) कंचन के कलसा कुच ऊँचे समीपहि मैन-महीप ठयो है।
बाजी खिलाय कै बालपनो अपनो पन लै सपनो सो भयो है।

देव कहा कहौं ठाकुर ईठ गयो दुरि यो दुरयोग नयो है ।
जोबन ऐंठ में पैठत ही मन मानिक गाँठि ते ऐंठि लयो है ।।17।।

शब्दार्थ—कंचन—सोना, सुनहला। कलसा—कलश, घड़ा, उन्नत। कुच—स्तन। समीपहिं—पास ही। मैन-महीप—कामदेव रूपी राजा। ठयौ है—स्थित है। बाजी—खेल, प्रेम की बाजी। बालपनो—बचपना। अपनो पन लै—अपना स्वभाव लेकर। सपनो सो भयो है—स्वप्न जैसा हो गयो है। ठाकुर ईठ—प्रिय स्वामी, नायक। गयो दुरि—छिप गया। यो—यह। दुर्योग नयो है—नया कुअवसर है। जोवन ऐंठि—यौवन की अकड़, उभार। पैठत ही—प्रवेश करते ही। मन मानिक—मन रूपी मोती। ऐंठि लियो है—छीन लिया है।

प्रसंग—प्रस्तुत प्रसंग देव रचित 'दर्शन मिलन' प्रसंग से लिया गया है। एक नवयौवना नायिका का प्रियतम पास नहीं, पर काम भाव ने उसके मन को व्याकुल कर रखा है। उसी सबका वर्णन करते हुए वह नवयौवना नायिका अपनी सहेली से कह रही है—

व्याख्या—सुनहले कलश के समान उन्नत स्तनों के समीप ही कामदेव रूपी राजा ने अपना डेरा डाल दिया है। अर्थात् काम-भावना से पीड़ित स्तन उभर-कर, फड़क-फड़क जाते हैं। अब बचपना तो अपने भोले-भाले खेल-खिलाकर अपनापन(अर्थात् बचपन) लेकर एक सपना जैसा हो गया है। अर्थात् यौवन—उभार के उन क्षणों में बचपन के दिन एक सपना-सा बनकर रह गये हैं। उसपर दुर्योग यह कि प्रिय स्वामी (नायक) भी कहीं जाकर छिप गया है। अब यौवन के आगमन का अनुभव होते ही अपने प्रियतम के अभाव में इस कामदेव रूपी राजा ने मेरे मनरूपी मोती को मुझसे ठग लिया या छीन लिया है। भाव यह है कि प्रियतम पास नहीं। ऐसी स्थिति में नवयौवन की उमंगें हर समय बेचैन किये रहती हैं। मन लुटा-लुटा-सा अनुभव करता है।

विशेष—(1) कवि ने मुग्धा नायिका या नवयौवन प्राप्त नायिका की काम-मोहित स्थिति का सजीव-स्वाभाविक वर्णन किया है।

(2) रूपक, उपमा और अनुप्रास अलंकार हैं।

(18) देव मैं सीस बसायौ सनेह कै, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो।
कंचुकी मैं चुपर्यो करि चोवा लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो।
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल का साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यो ।।18।।

शब्दार्थ—सीस बसायौ—सिर पर धारण किया। सनेह—प्रेम, तेल। भाल—माथा। मृगम्मद—कस्तूरी। बिंदु—टीका। भाख्यो—चमकाया। कंचुकी—चोली। चुपर्यो—चुपड़ा, लेप किया, लगाया। चोवा—चन्दन का इत्र। उर—हृदय। अभिलाख्यौ—इच्छित। मखतूल—काला रेशम। गुहे—गूंथे। मूरतिवंत—साकार। सिंगार—श्रृंगार रस। चाख्यो—चखा है। सांवरे लाल—सांवले कृष्ण (नायक)। सांवरो रूप—सलोना सुन्दर रूप।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन-मिलन' प्रसंग से लिया गया है। प्रेम-मुग्धा नायिका के मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ जन्म लेती रहती हैं। वह प्रिय-मिलन की तैयारी भी करती रहती है। उसी सबका वर्णन करते हुए, देव कवि के शब्दों में, नायिका अपनी अन्तरंग सहेली से कह रही है—

व्याख्या—मैंने अपने सिर पर प्रिय का स्नेह (प्रेम) भाव बसा रखा है, अतः उसके मिलन की उत्सुकता में मैंने तेल लगाकर सिर के बाल संवार लिये हैं। अपने मस्तक पर कस्तूरी की बिन्दी को भी जगमगा लिया है। अपनी चोली को चन्दन के इत्र से चुपड़कर प्रिय मिलन की इच्छा से उसे पहन लिया है। काली रेशम में गुंथे गहने लेकर मैंने शृंगार रस की साक्षात् मूर्ति के समान ही अपना शृंगार कर लिया है। अपने सांवरे सलोने लाल (नायक) के सांवले-सलौने रूप को मैंने काजल के समान अपनी आँखों में सजाकर रखा हुआ है। भाव यह है कि मेरा अंग-अंग और शृंगार सभी कुछ प्रिय को अर्पित होने के लिए हर क्षण प्रस्तुत एवं व्याकुल रहा करता है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम शृंगार के अन्तर्गत आने वाली अनेक क्रियाओं-प्रक्रियाओं में से अभिलाषा भाव का सजीव-साकार वर्णन किया है।

(2) 'सनेह' पद में श्लेष अलंकार है।

(19) कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक वर लोकन में,
लीन्हो मैं अलीक लोक लीकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि, देव गुरुजन जाहि,
जीव किन जाहि टेक टरति न टारी हौं।
बृंदाबनवारी बनवारी की मुकुटवारी,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ।।19।।

शब्दार्थ—कोऊ—कोई। कहौ—कहता रहे। कुलटा—बदलचन, भ्रष्ट चरित्र। कुलीन—अच्छे कुल की। अकुलीन—नीच कुल। रंकिनी—भिखारिन। कुनारी—दुश्चरित्र नारी। वर—श्रेष्ठ। अलीक—लीक से हटना। लोक-लीकन ते न्यारी—लोक मर्यादाओं से अलग, हटकर। जाहि—जाये। गुरुजन—बड़े-बूढ़े। जीव—प्राण। किन—क्यों न। टेक—प्रण। टरती न टारी हौं—टालने पर भी मैं टलने वाली नहीं। पीत पट-वारी—पीताम्बर धारी। वारी—न्यौछावर।

प्रसंग—प्रस्तुत छन्द देव रचित 'दर्शन-मिलन' प्रसंग से लिया गया है। श्रीकृष्ण या नायक के प्रति गोपी या नायिका के अगाध प्रेम का वर्णन करते हुए कविवर देव कह रहे हैं—

व्याख्या—गोपी (नायिका) अपनी सखी से कहने लगी—चाहे कोई मुझे बदलचन कहे, अच्छे कुल की या नीच कुल की कहे, कोई मुझे चाहे भिखारिन कहे, कलंकिनी और दुश्चरित्र नारी ही क्यों न कहे—मुझे चिन्ता नहीं। परलोक क्या है? बिगड़ता है तो

बेशक बिगड़ जाये । मेरी दृष्टि में तो सभी लोगों में यह मनुष्य लोक ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी कारण मैंने लोक-मर्यादा से अलग प्रेम की राह पकड़ी है । अब चाहे मेरा तन, मन, बड़े-बूढ़े, रिश्ते-नाते और प्राण तक भी क्यों न चले जाएँ, मैं अपने प्रेम-प्रण से टलने वाली नहीं । मैंने तो अपने आपको वृन्दावन वासी, मोर-मुकुट धारी और पीताम्बर धारण करने वाले बनवारी की सुन्दर मूर्ति पर न्यौछावर कर दिया है । वही मेरा सर्वस्व है ।

विशेष—(1) प्रेम की अनन्यता विशेष द्रष्टव्य है ।

(2) वर्णन, उल्लेख और अनुप्रास अलंकार हैं ।

बोधा कवि

'शिवसिंह सरोज' के अनुसार बोधा कवि का जन्म राजापुर, जिला बाँदा, उत्तर प्रदेश में सन् 1747 (संवत् 1804 विक्रमी) में हुआ । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बोधा कवि सरयूपारी ब्राह्मण थे और उनका रचना काल संवत् 1830 से 1880 तक माना जा सकता है । बुन्देलखण्ड की रियासत पन्ना के राजदरबार में इनके सम्बन्धियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी; बोधा भी इसी सम्बन्ध के कारण बाल्यकाल में पन्ना चले गये थे । इनका पूरा नाम बुद्धिसेन था किन्तु पन्ना नरेश इन्हें 'बोधा' के नाम से ही सम्बोधित करते थे । पन्ना दरबार की सुभान नामक नर्तकी का प्रेम उनके काव्य की मूल प्रेरणा बना । सुभान और बोधा का यह प्रेम-प्रसंग सुजान और घनानन्द के प्रेम-प्रसंग से बहुत कुछ समानता रखता है । ब्राह्मण होने के नाते वे संस्कृत के ज्ञाता थे ही, फारसी का ज्ञान भी उन्हें था जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है । इनकी मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है ।

बोधा कवि की दो रचनाओं का उल्लेख किया गया है—'विरह वारीश' और 'इश्कनामा' । 'विरह वारीश' तो बहुत कुछ सूफी शैली में और सूफी प्रभाव के अन्तर्गत रचा गया है । 'इश्कनामा' प्रेम की पीर में डूबे हुए स्फुट छन्दों का संग्रह है । 'विरह वारीश' प्रबन्ध रचना है जो माधवानल-कामन्दकला के प्रसिद्ध प्रेमाख्यान पर आधारित है । इसमें घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

'विरह वारीश' और 'इश्कनामा' का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बोधा का व्यक्तित्व और कृतित्व रीति-स्वच्छन्द कवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है । घनानन्द को जैसे 'सुजान' से प्रेम था वैसे ही बोधा 'सुभान' नामक वेश्या के प्रेम के मतवाले थे । सुभान ने सच्चे प्रेम का लक्षण और परिणाम पूछा था, उसी के उदाहरण में बोधा कवि ने निम्न कथा वर्णित की—

कवि-सुनि सुभान यारौ दिल दायक।
अब यह कथा न कथिबे लायक।।
सुभान अहो मीत ऐसी जनि भाखौ।
कथि कै कथा न आधी राखौ।।

अतः स्पष्ट है कि कवि के स्वच्छन्द प्रेम ने इस कथा की प्रेरणा दी थी। उनके जीवन में वस्तु रम गयी थी, वह काव्य द्वारा प्रकट हुई। इसलिए कहना न होगा कि सुभान के प्रति उनका स्नेह ही उनके काव्य का सर्वस्व बन गया था। सुभान ने उन्हें प्रेमी व्यक्तित्व प्रदान किया तो उसके प्रेम की तड़प ने ही उन्हें कवि बनाया।

बोधा के काव्य में प्रिय-मिलन की आकांक्षा तड़प बनकर वैसे ही समायी है जैसे बादलों में बिजली। मिलन की आकांक्षा मानव-मात्र में मूल प्रवृत्ति में है। बोधा के काव्य में प्रेम की वही पावन पुकार सुनाई पड़ती है। फूलों में जैसे सुकुमारता, सुगन्ध और सुन्दरता पायी जाती है वैसे ही मानव प्रेम में प्रेम के प्रति प्यास और सौन्दर्य के प्रति असीम ललक पायी जाती है। लेकिन प्रेम के पथ पर चलना सरल नहीं है, तलवार की धार पर चलने के समान है। बोधा के अनुसार—

यह प्रेम कौ पंथ कराल महा तलवार की धार पै धावनो है।

बेधड़क होकर निस्संकोच बात कहना बोधा के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है। उन्होंने सीधे और सपाट, बिना कपट के अपनी प्रीति का बखान किया है। कहीं किसी राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा की आड़ की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि रसखान, आलम अथवा घनानन्द में कहीं-कहीं परिलक्षित होती है या फिर बिहारी, देव आदि कवियों में उसका अगोपन स्वरूप दीख पड़ता है। इससे बोधा का कथ्य जहाँ बिना लाग-लपेट के सुबोध बन पड़ा है वहाँ उसमें सहजता-स्वाभाविकता भी आ गयी है। उनके काव्य में सर्वत्र प्रीति की गाथा अथवा व्यथा को ही वाणी दी गयी है। उन्होंने प्रेम-रीति के निरूपण में किसी मत अथवा सिद्धान्त का आग्रह नहीं लिया है, जैसा अनुभव किया है, जो अच्छा लगा है उसे बिना किसी झिझक के और बिना बनाव-शृंगार के कह दिया है। इसमें उन्हें सुख मिलता है। बोधा की वाणी से बोधा की प्रतीति प्रत्यक्षीकृत होती है और उनकी वह प्रीति निजी निधि है। प्रेम की प्रत्यक्ष अनुभूति का बोध करने वाला बोधा जैसा कवि अन्यत्र दिखायी नहीं देता है।

बोधा प्रेम के सहज कवि थे। अतः उनके काव्य में अभिव्यक्ति-कौशल कम ही दिखायी देता है। उनकी भाषा में सहजता एवं स्वाभाविकता के साथ सुष्ठता है जो साहित्य में सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है। अलंकारों के प्रयोग में वे सचेष्ट नहीं हैं, जहाँ भी अलंकार आए हैं वहाँ स्वाभाविक और प्रकृत रूप में ही आए हैं। बोधा के काव्य में ब्रज भाषा की छटा और माधुर्य के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। उन्होंने अरबी, फारसी और उर्दू भाषा के शब्दों का प्रयोग भी निस्संकोच भाव से किया है। मुहावरों का प्रयोग भी स्वाभाविक और प्रभावक रूप में हुआ है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार बोधा कोरा दिखावे का चमत्कार पैदा करने वाले अलंकारों से दूर हैं। ये प्रेम की

प्रदर्शिनी के दर्शक नहीं हैं उसकी वनस्थली में घूमने वाले चक्रवाक हैं। बोधा कवि ने अपने छन्द-विधान में भी अपनी रुचि, सवैया, दोहा, सोरठा, चौपाई और बरवै छन्दों के प्रयोग की ओर दिखायी है। उनका छन्द-विधान गुण-युक्त और भाव प्रकाशन में सहायक है।

संकलन

(1) अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेह ते द्वार सकीन तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है ॥1॥

शब्दार्थ—अति छीन—बहुत क्षीण, सूक्ष्म। मृनाल—कमल की नाल। तारहु ते—तार से। तेहि ऊपर—उस पर। आवनो—आना, गुजरना। सुई बेह ते—सुई की नौंक से। सकीन—संकीर्ण। तहाँ—वहाँ। परतीति—विश्वास। टाँड़ौ लदावनो—माल का लदवाना। अनी—नोंक। घनी—नुकीली। नेजहुँ ते—भाले या नेजे से। चढ़ि तापै—उस पर चढ़कर। कराल महा—बड़ा कठिन। तरवार—तलवार। धावनो—दौड़ना।

प्रसंग—यह पद्य बोधा कवि के 'संकलन' में से लिया गया है। प्रेम का रास्ता बड़ा कठिन होता है। उस पर चल पाना सरल काम नहीं। यह भाव प्रकट करते हुए बोधा कवि इस पद्य में कह रहा है—

व्याख्या—प्रेम का मार्ग कमल-नाल के तोड़ने से निकलने वाले तार से भी कहीं अधिक क्षीण एवं सूक्ष्म हुआ करता है। उस क्षीण तार पर पाँव रखकर प्रेमी जनों को आना-जाना या चलना पड़ता है। अर्थात् प्रेम-पंथ बड़ा ही कोमल या नाजुक हुआ करता है। उस पर बहुत सम्हलकर चलना पड़ता है, ताकि प्रेम की रीति और महत्त्व को आँच न पहुँचने पाए। प्रेम-मार्ग का द्वार सुई की नौंक से भी संकीर्ण अर्थात् तंग या पतला हुआ करता है। उस पर विश्वास रूपी माल लदवाकर निकलना पड़ता है। अर्थात् प्रेम की राह पर चलने वालों के मन में दृढ़ विश्वास और आस्था का भाव होना आवश्यक हुआ करता है। बोधा कवि कहते हैं कि प्रेम की राह नेजे या भाले की नौंक से भी अधिक नुकीली हुआ करती है, उस पर चढ़कर चित्त में डरना नहीं पड़ता। अर्थात् प्रेम के तीक्ष्ण मार्ग पर निडर होकर चलने वाला ही सफलता पाता है। इस प्रकार प्रेम का मार्ग उसी प्रकार महान कठिन है, जैसे तलवार की तीखी धार पर चलना या दौड़ना कठिन हुआ करता है। भाव यह है कि प्रेम की राह अनेक प्रकार की कठिनाइयों से भरी रहती है। दृढ़ आस्था और विश्वास वाला व्यक्ति ही उस पर चल पाने में समर्थ हुआ करता है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम मार्ग की कठिनाइयाँ बताकर सच्चाई, विश्वास और दृढ़ भाव को महत्त्वपूर्ण माना है।

(2) पद्य में उपमा, रूपक और अनुप्रास अलंकार हैं। मुहावरेदार भाषा का सजीव-सार्थक प्रयोग विशेष उल्लेख्य है।

(2) वह प्रीति की रीति को जानत तो तबहीं तो बच्यौ गिरि ढाहन तैं।
गजराज चिकारि कै प्रान तज्यौ न जर्यौ संग होलिकादाहन तैं।
कवि बोधा कछू न अनोखी यहै का बनै नहीं प्रीति निबाहन तैं।
प्रह्लाद की ऐसी प्रतीति करै तब क्यौं न कढ़ैं प्रभु पाहन तैं ॥2॥

शब्दार्थ—जानत तो—जानता था। गिरि—पर्वत। ढाहन तें—गिराने से। गजराज—हाथी। चिकारि कै—चिंघाड़ कर। तज्यौ—त्याग दिए। जर्यौ—जला। होलिका दाहन—होलिका के जलने। का बनै नहीं—क्या नहीं बनता, क्या कुछ नहीं हो पाता। प्रीति-निबाहन ते—प्रेम निभाने से। प्रतीति—विश्वास। की ऐसी—के समान। कढ़ै—निकलें, प्रकट हों। पाहन—पत्थर।

प्रसंग—प्रह्लाद भक्त के प्रभु के प्रति प्रेम और भक्ति-भाव का उदाहरण देकर, प्रेम का महत्त्व प्रकट करते हुए बोधा कवि कह रहा है।

व्याख्या—वह अर्थात् भक्त प्रह्लाद प्रेम की रीति-नीति को जानता-पहचानता और निभाता था, तभी तो अपने पिता (हिरण्यकश्यपु) की आज्ञा से पहाड़ पर से गिराया जाकर भी मरने से बच गया था। प्रह्लाद के पिता ने उसे हाथी के पैरों तले कुचलवाना चाहा, पर प्रेमी प्रह्लाद को देखकर चिंघाड़ता हुआ हाथी भी उसे कुचलने के स्थान पर भाग खड़ा हुआ। इसी प्रकार पिता ने प्रह्लाद को होलिका की गोद में बिठा जलाकर मार डालना चाहा, पर होलिका तो जल गई जबकि प्रह्लाद को वह जला न सकी। प्रेम-भक्ति के बल से वह साफ बच गया। कवि बोधा कहते हैं कि यह सब-कुछ हो जाना कोई अनोखी बात नहीं है। प्रेम-भाव का निर्वाह करने से संसार में ऐसा कौन-सा कार्य है जो सफल, सिद्ध नहीं हो पाता। अर्थात् प्रेम-भक्ति के बल पर संसार में कुछ भी कर पाना सम्भव है। प्रह्लाद ने जब अपनी प्रेम-भक्ति के प्रति इतना विश्वास भाव रखा, तभी प्रभु नृसिंह रूप धारण कर खम्भे के पत्थर से ही प्रकट हो गए थे। अर्थात् प्रेम की शक्ति अपरम्पार है। प्रेम के प्रति आस्थावान व्यक्ति संसार में कुछ भी कर सकते हैं।

विशेष—(1) प्रेम की शक्ति को कवि ने अथाह बताया है।

(2) पद्य में आई भक्त प्रह्लाद की अन्तर्कथा सभी जगह प्रसिद्ध है।

(3) यह प्रेम को पंथ हलाहल है सु तौ बेद पुरानऊँ गावत हैं।
पुनि आँखिन देखौ सरोजन लै नर संभु के सीस चढ़ावत हैं।
बरही पर माथे चढ़ै हरि के फल जोग ते एते न पावत हैं।
तुम्हैं नीकी लगै न लगै तो भले हम जान अजान जनावत हैं ॥3॥

शब्दार्थ—हलाहल—विष, जहर। सु तौ—यह तो। गावत हैं—कहते हैं। पुनि—फिर, उसपर। आँखिन देखौ—आँखों से देखो। सरोजन लै—कमलों को लेकर। नर—मनुष्य। संभु—शिवजी। सीस—सिर पर। बरही—मोरपंख। हरि के—श्रीकृष्ण

के। जोग—योग, मिलन। ते एते—इतने पर भी। नीकी—अच्छी। जान—ज्ञानवान। अजान—अज्ञानी। जनावत—बताते हैं।

प्रसंग—प्रेम-मार्ग को विषवत् एवं दुखदायक बताते हुए इस पद्य में बोधा कवि कह रहा है—

व्याख्या—यह प्रेम का रास्ता तो विषमय या विष के समान कड़वा और कठिन है, ऐसा वेद-पुराणों में भी गाया गया—अर्थात् कहा गया है। उसपर स्वयं आँखों से भी देख लो कि लोग कमल के पुष्प लेकर तो भगवान् शिव के मस्तक पर चढ़ाते या अर्पित करते हैं, दूसरी ओर सुन्दर एवं रंग-बिरंगा मोर का पंख भगवान् कृष्ण के मस्तक (के मुकुट) पर चढ़ाया या सजाया जाता है। इतने पर भी तो ये सब मिलन का फल या सुख प्राप्त नहीं कर पाते। अर्थात् वेद-पुराण शिव और कृष्ण की पूजा-अर्चना करने का नियम-विधान तो बता देते हैं, पर उन्हें पढ़ने एवं लोक परम्पराएँ पालते रहने से ही तो प्रभु-मिलन का फल प्राप्त नहीं हो जाया करता। ज्ञानी-अज्ञानी सभी कहते हैं कि मिलन का फल तो विषवत् कठिन प्रेम मार्ग पर चलने से हीं प्राप्त हुआ करता है।

विशेष—(1) कवि ने पूजा-अर्चना से भी बढ़कर प्रेम का स्थान और महत्त्व प्रतिपादित किया है।

(2) पद्य में विशेषोक्ति और अनुप्रास अलंकार स्पष्ट हैं।

(4) बिछुरे दरद न होत, खर सूकर कूकरन कों।
हंस मयूर कपोत, सुघर नरन बिछुरन कठिन ॥4॥

शब्दार्थ—बिछुरे—बिछड़ने पर। खर—गधा। सूकर—सूअर। कूकरन—कुत्ते। मयूर—मोर। कपोत—कबूतर। सुघर-नरन—सुघड़ या नीति-रीतिवान मनुष्य। बिछुरन—बिछुड़ना, वियोग।

प्रसंग—प्रेम की पीर या विरह-वेदना सबको नहीं, विशिष्ठों को ही पीड़ित किया करती है, यह भाव प्रकट करते हुए बोधा कवि कहते हैं—

व्याख्या—गधे, सूअर और कुत्तों को आपस में बिछुड़ जाने पर भी कष्ट नहीं होता—अर्थात् विरह का दुःख पीड़ित नहीं करता। लेकिन हंस, मोर और कबूतर के साथ-साथ प्रेम की रीति-नीति को जानने वाले मनुष्यों के लिए बिछुड़ने का दुःख बहुत अधिक हुआ करता है। भाव यह है कि संवेदनशील प्राणी ही प्रेम-विरह का मर्म पहचानते हैं, सामान्य कोटि के प्राणी नहीं।

विशेष— कवि ने अनुभवसिद्ध बात कही है। तुलना और अनुप्रास अलंकार हैं। पद्य का सूक्ति जैसा महत्त्व स्वीकारा जा सकता है।

लोक की लाज औ सोच प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह मैं हाँतो करै पुनि सोऊ।
बोधा सुनीति निताह करै धर ऊपर जाकै नहीं सिर होऊ।
लोक की भीति डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ ॥5॥

शब्दार्थ—सोच—चिन्ता। प्रलोक—परलोक। वारिये—न्यौछावर कीजिए।

दोऊ—दोनों। गेह—घर। देह—शरीर। नातौ —सम्बन्ध । सनेह—प्रेम। हाँ तो करै—स्वीकार करे। सोऊ—वही। सुनीति— अच्छी रीति-नीति। धर—धड़, शरीर का निचला भाग। भीति—डर से। डेरात—डरते, डर जाते। मीत—मित्र। पैंडे—राह पर। जनि—मत। कोऊ—कोई भी।

प्रसंग—किसी भी प्रकार का डर-भय मानने वालों को प्रेम-पंथ से दूर ही रहना चाहिए, यह भाव प्रकट करते हुए बोधा कवि कह रहा है।

व्याख्या—लोक-लाज अर्थात् लोक-निन्दा का डर और परलोक सुधार या मुक्ति मिलने की बात—इन दोनों को प्रेम के ऊपर न्यौछावर कर दो। गाँव, घर, शरीर आदि के सभी रिश्ते-नाते और सम्बन्ध प्रेम में सभी कुछ अस्वीकार कर केवल प्रेम भाव की ही रक्षा करनी चाहिए। बोधा कवि कहते हैं कि प्रेम की रीति का निर्वाह तो वही कर सकता है, जिसके धड़ पर सिर नहीं। अर्थात् त्याग और बलिदान कर पाने में समर्थ व्यक्ति ही प्रेम में सफल हो सकता है। हे मित्र! जो लोग किसी भी प्रकार की लोक-रीतियों, नीतियों और मर्यादाओं से डर-भर रखते हैं, उन्हें प्रेम की राह पर कभी भूलकर भी कदम नहीं रखना चाहिए। भाव यह है कि प्रेम का मार्ग लोक-मर्यादाओं और परम्पराओं के निर्वाह का मार्ग नहीं है, बल्कि आत्मत्याग का मार्ग है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम मार्ग को सभी रीति-नीतियों, मर्यादाओं और सम्बन्धों से ऊपर बताया है।

(2) उल्लेख, वर्णन और अनुप्रास अलंकार हैं।

(6) कहिबे को व्यथा सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर आनतु है।
अरु पीर घटै तजि धीर सखी दुख को नहीं कापै बखानतु है।
कवि बोधा कहै में सवाद कहा को हमारी कही पुनि मानतु है।
हमै पूरी लगी कै अधूरी लगी यह जीव हमारोई जानतु है ॥6॥

शब्दार्थ—कहिबे को—कहने के लिए। व्यथा—पीड़ा, गम। सुनिबे को—सुनने के लिए। उर आनतु है—हृदय में लाता है। अरु—और। पीर—पीड़ा, दुःख। तजि धीर—धीरज त्याग कर। कापै—किसी पर, किसी के सामने। बखानतु है—वर्णन करता, बताता है। संवाद—प्रेम-विरह की कथा, समाचार। पुनि—पर, फिर। कही—कहानी, कही हुई बात। जीव—आत्मा, प्राण। हमारोई—हमारा ही। जानतु है—जानता है।

प्रसंग—प्रेम करने वालों की स्थिति संसार में प्रायः अत्यधिक हास्यास्पद हो जाया करती है, यह भाव प्रकट करते हुए, इस पद्य में कविवर बोधा कह रहे हैं—

व्याख्या—प्रेम की अवस्था में प्रेमियों के पास कहने को तो गम या पीड़ा यही बातें ही रह जाया करती हैं, जबकि दूसरों से सुनने के लिए केवल हँसी—अर्थात् हास्य-व्यंग्य यही कठोर बातें ही रह जाया करती हैं। उन (प्रेमियों) बेचारों की व्यथा-कथा को सुनकर भी कोई उनके प्रति अपने हृदय में दया का भाव नहीं लाया करता। क्योंकि अपनी बात दूसरों से कह देने से मन की पीड़ा कम होती है, इस कारण हे सखि, प्रेमीजन

धीरज त्यागकर या अधीर होकर अपने दुःख का बखान जिस किसी के भी सामने करने लगते हैं। बोधा कवि कहता है कि प्रेम-व्यथा की कहानी कहने में आखिर आनन्द ही क्या है और फिर हमारी बात मानता ही कौन है ? प्रेम में हमें पूर्णता अर्थात् सफलता मिली या अधूरापन मिला—अर्थात् असफल रहे, इसे तो हमारा मन ही जानता है। भाव यह है कि बेचारे प्रेमी हर दशा में दुनिया से व्यंग्य और उपहास ही पाते हैं। उनकी दशा का वास्तविक अनुमान कोई नहीं लगा सकता।

विशेष—(1) प्रेमियों के प्रति संसार के व्यवहार और प्रेमियों की स्थिति का कवि ने अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किया है।

(2) पद्य में वर्णन, स्वाभावोक्ति और अनुप्रास अलंकार हैं। भाषा में लालित्य एवं स्वाभाविक प्रवाह है।

(7) काहू सों का कहिये अब ये यह बात अनैसी कहै ते कहावत।
कोऊ कहा कहि है सुनिहै कही काहू की कीनो हमैं नहीं भावत।
बोधा कहै को परेखो कहा दुनियाँ सब मास की जीभ चलावत।
वाहि को जाके हितू ने दई वह छोड़े बनै नहि ओढ़ने आवत ॥7॥

शब्दार्थ—काहू सौं—किसी से। अनैसी—बुरी, अप्रिय। कहै ते कहावत—कहने से कही जाती है। कोऊ—कोई। कहा कहि है—कहेगा। सुनि है—सुनेगा। काहू की कीनो—किसी का किया। नहीं भावत—भाता नहीं। को परेखो—शिकवा, शिकायत। कहा—क्या। वाहि को—उसे। जाके हितू—जिसके प्रेमी ने। दई—दी। छोड़े बनै नहिं—छोड़ते बनता नहीं। ओढ़ने आवत—ओढ़ना पड़ता, सहना पड़ता।

प्रसंग—प्रेम करने या न करने की भी एक प्रकार की विवशता हुआ करती है, यह बात प्रकट करते हुए कवि बोधा कह रहा है—

व्याख्या—अब भला अपनी स्थिति के बारे में किसी से कहें भी तो क्या कहा जाए ? पर यह अप्रिय लगने वाली बात कहने से कही ही जाती है—अर्थात् कहना ही पड़ता है। कहे बिना कोई चारा नहीं रह जाता। हमारी सुनकर कोई क्या कहे-सुनेगा, इस बात की हमें कोई चिन्ता भावना नहीं है। कवि बोधा कहते हैं, आखिर किसी को कहने या शिकवा करने से मिलता भी क्या है ? लोग तो ऐसा-वैसा कुछ-न-कुछ बक ही दिया करते हैं। वे लोग तो बस अपनी मांस की जीभ भर ही चलाना जानते हैं। पर उस बेचारें से, जिसे प्रिय ने प्रेम-रूपी चादर ओढ़ने को दी है, उस बेचारे प्रेम से यह न तो छोड़ते बनती है और न ओढ़ते ही। भाव यह है कि लोक पक्ष को अपनाकर प्रेम छोड़ा नहीं जाता। चाहकर भी ऐसा नहीं हो पाता। होता वही है, जो हृदय चाहता है। इस प्रकार प्रेम भी व्यक्ति के लिए एक जंजाल बन जाता है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेम भाव को एक प्रकार की अनिवार्य विवशता बताया है। प्रेम करना या न करना किसी के वश की बात नहीं होती।

(2) पद्य में रूपकात्मक योजना है। भाषा सानुप्रासिक और मुहावरेदार है।

(8) बोधा सब जग ढूँढ्यौं, फिरि फिरि धाइ ।
जेहि मन ही मन चाहत, सो न लखाइ ॥8॥

शब्दार्थ—ढूँढ्यों—ढूँढ़ कर देख लिया। फिरि-फिरि—बार-बार। धाई—दौड़-कर। जैहि—जिसको। सो—वह। न लखाई—दिखाई नहीं देता।

प्रसंग—प्रेम में मन की विवशता का उल्लेख करते हुए कविवर बोधा इस पद्य में कह रहा है—

व्याख्या—इधर-उधर बड़ी व्यग्रता से दौड़-भाग कर सारे संसार में ढूँढ़कर देख लिया, पर जो होता है, वह एक ही होता है। वह यह कि जिसे व्यक्ति मन-ही-मन चाहता है, वही कहीं दीख नहीं पड़ता। बाकी अनचाहा सभी कुछ जहाँ-तहाँ देखने को मिल जाता है।

विशेष—(1) वर्णन तथ्यपूर्ण है।

(2) पुनरुक्तिप्रकाश, वीप्सा अलंकार हैं। भाषा अत्यन्त सहज और मुहावरेदार है।

(9) कूर मिलै मगरूर मिलै रनसूर मिले धरे सूर प्रभा को ।
ज्ञानी मिलै औ गुमानी मिलै सनमानी मिलै छबिदार पताको।
राजा मिलै अरु रंक मिलै कवि बोधा मिलै निरसंक महा को ।
और अनेक मिलै तौ कहा नर सो न मिल्यौ मन चाहत जाको ॥9॥

शब्दार्थ—कूर—झूठे। मगरूर—घमण्डी। रनसूर—युद्धवीर। धरे—धारण किए हुए। प्रभा—सूर्य की ज्योति, तेजस्विता। गुमानी—घमण्डी। सनमानी—सम्मान-मान वाले। छविदार पताको—सुन्दर ध्वज वाले, यशस्वी। अस—और। रंक—भिखारी। निरसंक महा—अत्यन्त निशंक, बेपरवाह। को—कौन। सो न मिल्यौ—वह नहीं मिला। चाहत जाको—जिसको चाहता है।

प्रसंग—मन का मीत मिलना संसार में बहुत कठिन हुआ करता है, यह भाव प्रकट करते हुए कवि बोधा कह रहा है—

व्याख्या—इस संसार में समय-समय पर सभी मिलते रहे। झूठे, दुष्ट, घमण्डी, वीर योद्धा और ऐसे लोग भी मिले कि जो सूर्य के समान प्रभा धारण करने वाले या तेजस्वी हुआ करते हैं। बड़े-बड़े ज्ञानवान और अहंकारी भी जहाँ-तहाँ अपने आप ही मिल गए। शोभा और यश के ध्वज उड़ाते हुए—अर्थात् अत्यन्त यशस्वी मान-सम्मान वाले व्यक्ति भी संसार में मिल गए। राजा, भिखारी और हमेशा निशंक-निडर रहने वाले भी अनेक लोग यदि मिल भी गए, तो क्या, जबकि मन जिसको चाहता रहा, वही न मिल पाया। भाव यह है कि अनेक लोगों से मिलने में सार्थकता नहीं होती, सार्थक होता है प्रिय का मिलन।

विशेष—(1) सच्चे प्रेमी संसार में कम ही, कभी-कभी और कहीं-कहीं ही मिल पाते हैं, कवि ने यही मत प्रकट किया है।

(2) पद्य में अनुक्रम, उल्लेख और अनुप्रास अलंकार हैं।

(13) सब जग देख्यौ बोधा, एक न दीख ।
देइ भिखारी दिल को, दरसन भीख ॥10॥

शब्दार्थ—देख्यौ—देख डाला । देइ—देवे ।

प्रसंग—प्रेम और प्रेमी के दर्शन सब जगह सम्भव नहीं हुआ करते, यह विचार प्रकट करते हुए बोधा कवि कह रहा है—

व्याख्या—मैंने सारे संसार में भली प्रकार देख-खोज डाला, पर वह एक मुझे कहीं भी दिखाई नहीं दिया । ऐसा प्रिय व्यक्ति कहीं भी न मिला जो मेरे भिखारी जैसे मन को अपने दर्शन रूपी भीख देता । भाव यह है कि प्रिय-दर्शन की इच्छा पूरी न हो सकी ।

विशेष—पद्य में रूपकात्मक योजना है ।

(11) रितु पावस स्याम घटा उनई लखि कै मन धीर धिरातो नहीं ।
पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनि कै धुनि चित्त थिरातो नहीं ।
जब ते बिछुरै कवि बोधा हितू तब ते उर दाह सिरातो नहीं ।
हम कौन सों पीर कहैं अपनी दिलदार तौ कोऊ दिखातो नहीं ॥11॥

शब्दार्थ—रितु पावस—वर्षा ऋतु । स्याम-घटा—काली घटाएँ । उनई—उमड़ आई । लखि के—देखकर । धिरातो—धारण करता । पुनि—फिर । दादुर—मेढ़क । पपीहन—पपीहा । धुनि—स्वर । थिरतो—ठहरता । हितू—प्रेमी । उर दाह—हृदय की जलन, विरहाग्नि । सिरातो—ठण्डी होना । दिलदार—दिल को प्रिय लगने वाला । दिखातो नहीं—दिखाई नहीं देता ।

प्रसंग—वर्षा ऋतु ने आकर प्रेम-विरह की वेदना को दुगुना कर दिया है, यह भाव प्रकट करते हुए बोधा कवि कह रहे हैं—

व्याख्या—वर्षा ऋतु है । चारों ओर बादलों की काली-काली घटाएँ उमड़-घुमड़ कर छा रही हैं । इनको देखकर प्रिय के अभाव में यह मन अब किसी भी तरह धीरज नहीं रख पा रहा । इन बादलों की घटाओं को देखकर मेढ़कों, मोरों और पपीहों ने जो जोर-शोर से बोलना शुरू कर दिया है, उसको सुनकर अब यह मन स्थिर नहीं रह पा रहा—अर्थात् प्रिय मिलन के लिए अत्यधिक व्याकुल एवं चंचल हो उठा है । बोधा कवि कहते हैं, जब से मेरे प्रिय मुझ से बिछुड़ गये हैं, तब से हृदय का दाह अर्थात् विरह की आग कभी एक पल के लिए भी ठण्डी नहीं पड़ती । वह हमेशा भड़क कर तन-मन को जलाती ही रहती है । ऐसी अवस्था में हम अपने मन की बात और विरह-वेदना कहें भी तो किससे ? यहाँ अपना दिलदार अर्थात् प्रिय (प्रेमी) तो कहीं कोई दिखाई नहीं देता । भाव यह है कि प्रिय-विरह में वर्षा ऋतु के आगमन ने तन-मन की दशा को अत्यधिक पीड़ित एवं व्याकुल कर दिया है ।

विशेष—कवि ने प्रेमियों-विरहियों पर पड़ने वाले वर्षा ऋतु का प्रभाव परम्परागत ढंग से वर्णित किया है । कवि को वर्षा ऋतु की प्रकृति और तत्सम्बन्धी उपादानों का अच्छा ज्ञान है, यह बात स्पष्ट है ।

(12) एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयौ सतक्रतु की पदवी लुटियै तकि कै मुसकाहट ताको।
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरान तहाँ को।
जान मिलै तौ जहान मिलै नहि जान मिलै तौ जहान कहाँ को।12।।

शब्दार्थ—सुभान—एक दरबारी नर्तकी का नाम। आनन—मुख। कुरबान—न्यौछावर। जहाँ लगि—जहाँ तक। रूप—सौन्दर्य। जहाँ को—संसार के। कैयौ—कितने ही? सतक्रतु—सौ यज्ञ। लुटियै—लूटी जाएँ। ताकि कै—देखकर। मुसकाहट—मुस्कान। ता को—उसकी, सुभान की। सोक—चिन्ता, दुःख। उजरान—उजाला, शोभा, दीप्ति। ताको—उसके। जान—प्राणसम प्रिया। जहान—संसार।

प्रसंग—अपनी प्रेमिका सुभान के प्रति एकनिष्ठ प्रेमभाव प्रकट कर, उसके अभाव में जीवन-जहान को व्यर्थ बताते हुए कवि बोधा कह रहे हैं—

व्याख्या—संसार में जहाँ जितने भी प्रकार के स्वरूप एवं सौन्दर्य हैं, वे सब अकेली सुभान के मुख पर न्यौछावर हैं। अर्थात् सुभान के सुन्दर मुख की समता संसार भर का सौन्दर्य नहीं कर सकता। जिसने सौ यज्ञ करने की पदवी भी क्यों न प्राप्त कर रखी हो, उस (सुभान) की मुस्कान उसके मन को भी लूट लेने वाली है। अर्थात् बड़े-बड़े संयमी और धर्मात्मा भी सुभान की मधुर मुस्कान की उपेक्षा कर पाने में असमर्थ हैं। किसी भी प्रकार का दुःख-चिन्ता या बुढ़ापा उसके चेहरे से कभी गुजरा नहीं, वहाँ तो हमेशा रूप-सौन्दर्य एवं मुस्कान का उजाला छाया रहता है। इस प्रकार की प्राण-समान प्रिया सुभान के मिलने पर ही मेरे लिए इस संसार का अस्तित्व और महत्त्व है। उसके अभाव में प्राणों और संसार का कोई मूल्य एवं महत्त्व नहीं है और न हो ही सकता है।

विशेष—(1) सुभान पन्ना के राज दरबार में नर्तकी थी। कहा जाता है कि बोधा कवि उसके प्रेम में दीवाने थे। अपनी प्रेमिका स्वभावतः सबको संसार की सर्वाधिक सुन्दरी नजर आया करती है।

(2) पद्य में उपमा, अनुप्रास एवं पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार हैं।

(13) कूक न मारु कोइलिया, करि करि तेह।
लागि जात विरहिनि के दुबरी देह ।।13।।

शब्दार्थ—कूक—कुहुक, बोल। न मारु—न मार, न बोल। कोईलिया—कोयल, एक विशेष पक्षी। तेह—क्रोध। लागि जात—आग लग जा रही। विरहिनि—वियोग से पीड़ित नायिका। दुबरी देह—कमजोर शरीर।

प्रसंग—कोयल की आवाज विरहणि को भड़का दिया करती है, अतः उसे बोलने से वर्जित करते हुए बोधा कवि कह रहे हैं—

व्याख्या—हे कोयल! तू क्रोध कर-करके बार-बार कूक न मार अर्थात् कुहुक का स्वर मुखरित न कर या मत बोल। क्योंकि तेरी इस तीखी आवाज को सुनकर वियोग से पीड़ित नायिका के दुर्बल शरीर को वियोग की अग्नि जलाने लगती है।

विशेष—सम्बोधन एवं वर्जन का भाव मुख्य है। वह सब स्वाभाविक भी है।

अनुप्रास एवं वीप्सा अलंकार हैं।

(14) निसि बासर नींद औ भूख नहीं जब ते हिय मैं यह आनि बसी।
मिलतै न बनै जग की भय ते बरजी न रहै हिय की हुलसी।
कवि बोधा सुनै हे सुभान हितू उर अंतर प्रेम की गाँस गसी।
तिनको कल कैसे परै निरदै जिनकी है कुसाँगरे आँख कसी ॥14॥

शब्दार्थ—निसि—रात। वासर—दिन। तै—से। हिय में—हृदय में। यह—प्रीति की भावना। आनि बसी—आकर बस गई है। जग की भय ते—संसार की मर्यादा या विरोध के डर से। बरजी—रोकी। हिय की हुलसी—हृदय की प्रति, प्रेम की प्रसन्नता। हितू—प्रेमी, प्रिय। उर अंतह—मन में। गाँस गसी—फलक फँसी या अड़ी है। तिनकौ—उनको। कल—चैन। निरदै—निर्दय, कठोर। कुसाँगरे—प्रेम के कठिन मार्ग में। आँख कसी—आँखें फँसी या लगी हुई हैं।

प्रसंग—अपने मन की प्रेम-व्याकुलता का प्रिया सुभान को अहसास कराने के लिए, उसी को सम्बोधित कर कवि बोधा कह रहे हैं—

व्याख्या—हे प्रियतमे सुभान! जब से तुम्हारी प्रीति मेरे मन में आकर बस गई है, तब से मुझे भूख-प्यास और नींद आदि कुछ भी नहीं आती। संसार की वर्जनाओं के डर से तुमसे मिलते भी तो नहीं बन पा रहा। पर हृदय में बसी यह प्रेम-भावना रोकने पर रुक भी तो नहीं पा रही है। हे प्रिये सुभान! अच्छी प्रकार सुन लो। मेरे हृदय में तो तुम्हारे प्रेम की नुकीली फलक फँस गई है, अतः हमेशा तुम्हारे प्रेम में व्याकुल रहता हूँ। ऐ निर्दय! उन बेचारों को चैन पड़ भी कैसे सकता है जिनकी कि आँखें प्रेम के इस संकरे मार्ग पर चलते हुए किसी प्रिय की आँखों में फँस गई हैं। भाव यह है कि प्रेम का भाव हृदय में बस जाने के बाद सुख-चैन सभी कुछ चला जाता है।

विशेष—(1) कवि ने प्रेमियों की स्थिति का यथार्थ और स्वाभाविक वर्णन किया है।

(2) पद्य में स्वाभावोक्ति, अनुप्रास और उल्लेख अलंकार हैं। भाषा विषय के अनुरूप माधुर्य गुण-प्रधान है।

(15) बात नहीं समुझावै सबै यह पीर हमार न जानत कोई।
का करै लैके सिखापन को जिय जाहि को आपने हाथ न होई।
बोधा कदाचित जानै वहै वहि कै जिय में जिन बेदन बोई।
जाते मिटै यह पीर सरीर की है वह मूरि सजीवनि सोई ॥15॥

शब्दार्थ—पीर—विरह, वेदना। हमार—हमारी। का करै—क्या करें। लेके सिखावन करे—शिक्षा लेकर क्या करें। जिय—मन। जाहि को—जिसका। कदाचित—शायद। जानै वहै—वही जानता है। बेदन बोई—वेदना बोई या दी है। जाते—जिस से। मूरी—जड़ी-बूटी। सोई—वही।

प्रसंग—प्रेम की पीड़ा का अनुभव केवल भुक्तभोगी ही कर सकता है, यह भाव

प्रकट करते हुए कविवर बोधा कह रहे हैं—

व्याख्या—भला यह भी कोई बात हुई कि हमें समझाते तो सब हैं, पर हमारी प्रेम की पीड़ा को समझने वाला कोई नहीं मिलता। जिसका मन ही अपने हाथ में न हो, वह भला किसी की शिक्षा लेकर क्या करेगा? अर्थात् मन के अभाव में सारी शिक्षा स्वतः ही महत्त्वहीन होकर रह जाएगी। बोधा कवि कहता है कि बेचारे प्रेमी की वेदना और दशा को तो वही जान-समझ सकता है कि जिसने (प्रेमिका या प्रिय) उसके हृदय में वह विरह की पीड़ा बोई या संजोई होती है। विरह-वेदना से पीड़ित व्यक्ति के लिए तो वही जड़ी-बूटी अर्थात् उपचार की बात हो सकती है कि जिस संजीवनी-समान बात को पाकर उसके तन-मन की पीड़ा का अन्त सम्भव हो सके। भाव यह है कि प्रेमी के लिए सभी प्रकार की शिक्षाएँ महत्त्वहीन हुआ करती हैं। प्रिय-मिलन की सम्भावना ही संजीवनी-समान उसका कुछ भला कर सकती है।

विशेष—प्रेमी की स्थिति, मानसिकता एवं आवश्यकताओं का वर्णन कवि ने मुहावरेदार, सरल, सजीव भाषा में किया है।

(16) दूरि है मूरि अपूरब सो ससि सूरजहु कबहूं क निहारी।
आदर बेली नवेली अबै, कहु कैसे मिलै बर जोग दिवारी।
बोधा सुनै हे सुभान हितू करि कोटि उपाइ थकें उपचारी।
पीर हमारी दिलंदर की हम जानत हैं वह जाननहारी ॥16॥

शब्दार्थ—दूरि है—दूर है। भूरि अपूर ब सो—वह अनोखी जड़ी-बूटी। ससि—चाँद। कबहुंक निहारी—कभी-कभी ही देखा है, दर्शन दुर्लभ है। आदर बेली नवेली अबै—वह नवेली या अल्हड़ (युवती) अभी अधपकी बेल के समान है। बर जोग दिवारी—प्रेम में श्रेष्ठ योगदान करने वाली। हितू—प्रेमी, प्रिय। करि कोटि उपाय—करोड़ों उपाय करके। उपचारी—वैद्य, इलाज करने वाले। दिलंदर की—भीतर की, हृदय की। जाननहारी—जानने वाली।

प्रसंग—प्रेमिका (सुभान) से अलग कवि का प्रेमी हृदय उसके प्रति प्रेम-निवेदन करते हुए कह रहा है—

व्याख्या—मुझ प्रेमी हृदय की प्रेम की पीर का उपचार जिस जड़ी-बूटी (प्रेमिका) से सम्भव हो सकता है, वह तो बड़ी दूर है। उसे तो चाँद-सूर्य भी कभी-कभी ही देख पाते हैं। अर्थात् वह बड़े ही पर्दों में रहती है। वहाँ तक पहुँच पाना सम्भव नहीं। वह तो अभी अधपकी बेल के समान है—अर्थात् अत्यधिक अल्हड़ एवं कच्ची उमर की है, प्रेम में श्रेष्ठतम योग के रूप में पाने में समर्थ वह मिले भी तो कैसे? बोधा कवि कहता है—हे प्रिय सुभान, सुनो! उपचार करने वाले लोग (वैद्य आदि) करोड़ों उपाय करके थक-हार गए हैं, पर हमारे भीतर की पीड़ा वे लोग नहीं समझ पाए। उसे तो वह जानने वाली (पिया, सुभान) ही समझ सकती है, अन्य कोई नहीं।

विशेष—(1) मुग्धा या अज्ञात-यौवना नायिका के प्रति आसक्ति का परिणाम कवि ने बताया है।

(2) पद्य में रूपकात्मक योजना है। प्रश्न और अनुप्रास अलंकार हैं।

(17) कारी घटा दिसि दक्षिन देखि भयो सु चहै हियरा जरि कारो।
ताही घरी घहराइ वही गिरिगो भुव पै लगि प्रेम तमारो।
केतन आइ लगाइ थकी कवि बोधा हकीमन को उपचारो।
पै न धरै वह धीर अली न मिलै वह पीर के जाननहारो ॥17॥

शब्दार्थ—दिसि दक्षिन—दक्षिण दिशा। हियरा—हृदय। जरि—जलकर। कारो—काला। ताही घरी—उसी क्षण, तत्काल। घहराइ—घहरा कर। भुव पै—भूमि पर। लगी प्रेम तमारो—प्रेम की बेहोशी आ गई। केतन आइ—कितने ही आए। हकीमन को उपचारो—हकीमों-वैद्यों का इलाज। अली—सखी।

प्रसंग—प्रेम-विरह में प्रेम की बेसुधी आदि का वर्णन करते हुए बोधा कवि कह रहे हैं—

व्याख्या—दक्षिण दिशा से उठ रही काली घटाओं को देखकर प्रिय की चाह जन्य वियोग के कारण समय भी जलकर काला पड़ गया। वह (प्रेमी) तत्क्षण घहराकर वहीं भूमि पर गिर गया और प्रेम-विरह-जन्य बेहोशी से बेसुध हो गया। पता नहीं कितने ही हकीम (वैद्य) आकर इलाज करने लगे और थककर हार गए, पर किसी को कोई भी लाभ न पहुँचा। वियोगी की बेहोशी टूट न पाई। पर हे सखि! जबतक वह प्रेम-पीड़ को जानने वाली (प्रेमिका, नायिका) आकर नहीं मिलती, तबतक यह मन धीरज कैसे धारण कर सकता है—अर्थात् इसकी बेहोशी समाप्त नहीं हो सकती।

विशेष—प्रेमी के हृदय पर पड़ने वाले ऋतु-सम्बन्धी प्रभाव का कवि ने सजीव एवं प्रभावी वर्णन किया है। भाषा सानुप्रासिक है।

(18) बोधा सुभान हितू सों कही या दिलंदर की को सही करि मानत।
ता मृगनैनी की चाह चितौनि चुभी चित मैं चित सो पहिचानत।
तासों वियोग दई ने दयौ तौ कहौ अब कैसे मैं धीरज आनत।
जानत है सबही समुझाइये भावती के गुन को नहि जानत ॥18॥

शब्दार्थ—हितू—प्रिय। दिलंदर—भीतरी मन। सही—ठीक। को—कौन। ता—वह (नायिका)। मृगनयनी—हिरणी के समान नयनों वाली। चाह-चितौनी-चुभी चित—चाहभरी दृष्टि मन में चुभ गई है। वियोग दई ने दयौ—देव ने वियोग दे दिया है। धीरज-आनत—धैर्य धारण करूँ। भावती—प्रेमिका।

प्रसंग—सुभान की प्रेमभरी दृष्टि मन में चुभकर रह गई है। यह भाव प्रकट करते हुए बोधा कवि कह रहा है—

व्याख्या—अपनी प्रेमिका सुभान से जो मन की भीतरी बात—अर्थात् प्रेम की बात मैंने कही, उसे ठीक करके कौन समझता और मानता है। उस मृगनयनी सुभान की चाहभरी दृष्टि मेरे इस चित में चुभ गई है, मेरा मन तो बस इस बात को ही जानता-पहचानता है। अब जबकि दैव (विधाता) ने ही उस (सुभान) से वियोग करा दिया है, तो अब आप ही बताओ, मेरा यह मन किस प्रकार से धीरज धारण कर सकता है?

जानता हूँ कि सभी लोग मुझे ही धीरज रखने की बातें समझाते हैं, पर मेरी उस प्रिया, मेरे मन को भाने वाली सुभान के गुण कोई नहीं जानता। अर्थात् उसकी प्रेमभरी दृष्टि की चुभन कितनी गहरी और प्रभावकारी है, इस बात को लोग नहीं समझते। उस दृष्टि के एक बार हृदय में चुभ जाने के बाद धीरज रख पाना संभव हो ही नहीं सकता।

विशेष—(1) प्रेम-दृष्टि की गहनता और तदजन्य अनुभूति का कवि ने मार्मिक वर्णन किया है।

(2) उपमा और अनुप्रास अलंकार हैं।

(19) बोधा किसू सों कहा कहिये सो विथा सुनि पूरि रहै अरगाइ कै।
यातैं भले मुख मौन धरैं उपचार करैं कहूँ औसर पाइ कै।
ऐसो न कोऊ मिल्यो कबहूँ जो कहै कछु रंच दया उर लाइकै।
आवतु है मुख लौं बढ़ि कै फिरि पीर रहै या सरीर समाइ कै ॥19॥

शब्दार्थ—किसू सौं—किसी से। सो—वह। विथा—व्यथा, प्रेम की पीर। पूरी रहै अरगाइ के—पूर्णतया अलग हो रह जाते हैं। या ते—इससे। मौन धरै—चुप रहे। उपचार—उपाय, इलाज। औसर पाइके—अवसर या समय पाकर। रंच—जरा सी। दया उर लाइके—मन में दया भर के। आवतु है—आ जाती है। मुख लौं—मुँह तक। बढ़ि के—बढ़कर। या—इस।

प्रसंग—संसार में कोई किसी की वेदना को समझता नहीं, अतः चुप रहना ही अच्छा होता है, यह भाव स्पष्ट करते हुए कवि बोधा कह रहा है—

व्याख्या—किसी से भला अपने प्रेम-विरह की मानसिक कथा कही भी तो कैसे जाए। उसे सुनकर सभी लोग पूर्णतया अलग हो जाते हैं। अर्थात् हमारी पीड़ा किसी को भी सहानुभूतिपूर्ण नहीं बना पाती। सुनकर सभी उदासीन एवं चुप होकर रह जाते हैं, अतः कहने से कोई लाभ नहीं। इससे तो यही अच्छा है कि मुँह मौन रहे—अर्थात् किसी से कुछ कहा ही न जाए। कभी अवसर मिले, तो स्वयं ही अपनी विरह-व्यथा का उपचार करने का प्रयत्न किया जाए। संसार में ऐसा कोई भी दयालु व्यक्ति कभी कहीं नहीं मिल पाया, जो हमारी विरह-वेदना को सुनकर मन में दया भर दे—चार सहानुभूति के बोल कह दे। इस कारण हमारी मन की बात प्रकट होने के लिए मुँह तक तो आ जाती है, पर जगत् को सहानुभूति से शून्य पाकर फिर शरीर में ही समाकर रह जाती है। अर्थात् स्वयं को ही पीड़ित करती रहती है, दूसरों तक पहुँच ही नहीं पाती।

विशेष—(1) प्रेमी जनों के प्रति संसार के लोगों का हृदय स्नेह-संवेदना-शून्य हुआ करता है, यही बात कवि ने मुख्य रूप से कही है।

(2) भाषा मुहावरेदार एवं अनुप्रासमयी है।

(20) खरी सासु घरी व छमा करिहै निसिबासर त्रासन हीं मरबी।
सदा भौंहें चढ़ाये रहे ननदी यों जेठानी की तीखी सुनै जरबी।
कवि बोधा न संग तिहारी चहैं यह नाहक नेह फंदा परबी।
बड़ी आँखें तिहारी लगैं ये लला लगि जैहें कहूँ तो कहा करबी ॥20॥

शब्दार्थ—खरी—तेज स्वभाव वाली। धरीन छमा करिहैं—घड़ीभर भी क्षमा नहीं करती। निसि बासर—रात-दिन। त्रास ही—डर से ही। मरबी—मरूँगी। ननदी—ननद। तीखी सुनै जरबी—तीखी बातें सुनकर जलूँगी। तिहारी—तुम्हारी। नेह फंदा परबी—प्रेम के बन्धन में पड़ूँगी। लगे—लगती।

प्रसंग—प्रेम भाव में उलझी नायिका नायक से दूर रहने और ससुराल के सगों के व्यवहार की चर्चा करते हुए कह रही है—

व्याख्या—सास बड़ी ही तेज स्वभाव वाली है। वह मुझे एक घड़ी के लिए भी क्षमा नहीं करेगी—अर्थात् चैन नहीं लेने देगी। अतः मुझे तो रात-दिन उसके डर से ही मरना होगा। ननद की भौंहें भी सदा चढ़ी रहती हैं—अर्थात् क्रोध से भरी रहती हैं, उस पर मैं जेठानी की तेज-तर्रार बातें सुनकर मन-ही-मन हमेशा जलती रहूँगी। अतः बोधा कवि कहता है कि नायिका नायक से कहने लगी—तुम्हारा साथ हमें नहीं चाहिए। ऐसा होने पर यह मन नाहक ही तुम्हारे प्रेम के बन्धन में फँस जाएगा। तुम्हारी आँखें बड़ी ही तीखी हैं, मुझे उनसे हमेशा डर लगता रहता है। अगर यह मेरी आँखों से लग गईं, तो तुम्हीं बताओ, फिर मैं क्या कर लूँगी? अर्थात् एकदम असमर्थ-विवश होकर ही मुझे रह जाना पड़ेगा।

विशेष—कवि ने सास, ननद और जेठानी के स्वभाव का परम्परागत वर्णन किया है। शायद आज भी इनके स्वभाव में, आतंक और दबाव में कोई अन्तर नहीं आया है।

☒ ☒ ☒